UNIVERSAL LIBRARY

OU_176608

UNIVERSAL LIBRARY

मोतीमाला का पंद्रहवाँ रत्न

सगर–विजय

नाटककार

श्री उदयशंकर भट्ट

प्रकाशक

मोतीलाल बनारसीदास
हिन्दी-संस्कृत पुस्तक-विक्रेता
सैदमिट्ठा बाज़ार, लाहौर

द्वितीय संस्करण]   १६३६   [१)

प्रकाशक—

सुन्दरलाल जैन

पंजाब संस्कृत पुस्तकालय,

सैदमिट्ठा बाज़ार, लाहौर

सर्वाधिकार सुरक्षित हैं।

मुद्रक—

शान्तिलाल जैन

बम्बई संस्कृत प्रेस,

शाही मुहल्ला, लाहौर

नोट—

सब प्रकार की पुस्तकें हमारी निम्नलिखित शाखा से भी मिल सकती हैं:—

मोतीलाल बनारसीदास

संस्कृत-हिन्दी-पुस्तक-विक्रेता—बांकीपुर पटना

भूमिका

यह नाटक भी भट्ट जी की एक मौलिक एवं सुंदर रचना है। कथानक इसका भी वियोगान्त ही है, किन्तु रंगमंच की दृष्टि से इसे उपयोगी बनाने का भट्ट जी ने सफल प्रयत्न किया है। भाषा भी इसकी बोलचाल की है किन्तु प्रौढ़ एवं यत्र तत्र दिये गये गीत भी भावपूर्ण एवं मधुर अथच सुन्दर हुए हैं। इसमें मत्स्य-गंधा की तरह संकुचित कथानक का आधार नहीं लिया गया है, वरन् सूर्यवंश के राजा बाहु एवं उसके महा-पराक्रमी पुत्र सगर-द्वारा उन्हीं के विरोधी बन जाने वाले मंत्री दुर्दम को बड़े कठिन प्रयास द्वारा पराजित कर अपना खोया हुआ राज्य फिर प्राप्त करने का विशद कथा भाग लेकर इसकी रचना की गई है। यह नाटक भी प्रारंभ करने पर बिना समाप्त किये रखने की इच्छा नहीं होती। एकाध को छोड़ प्रायः इसके सभी दृश्य अत्यंत भावपूर्ण एवं हृदय-स्पर्शी हैं। कई प्रसंग तो बहुत ही मार्मिक हुए हैं।

अपने पराजित एवं घायल राजा बाहु को ढूँढते हुए सैनिकों का वार्तालाप एवं रानी विशालाक्षी का आततायी को मार डालना, छोटी रानी का सौतिया डाह और क्रोधान्ध अवस्था में अपने पति की मृत्यु पर भी न पसीजना, दुर्दम का मिथ्या अहंभाव, वैद्य का विनोदपूर्ण किन्तु मूर्खतायुक्त रोग-निदान, राजा की मृत्यु के पश्चात् सगर्भा रानी का और्व ऋषि के उपदेश से सती होने से

रुकना, छोटी रानी बर्हि का सैनिकों को चकमा देकर छूट जाना, और्व ऋषि के आश्रम में विशालाक्षी के पास सोये हुए बालक को मार डालने के लिए बर्हि का चुप चाप उठा ले जाना, माता का विलाप, दुर्दम के कारागार से महाराजा के सहायक सैनिक कुन्त और त्रिपुर का युक्तिपूर्वक भाग-निकलना, तथा नदी में फैंकती हुई बर्हि के हाथ से बालक सगर को लेकर चल देना, इधर पुत्र-विरह में विक्षिप्त विशालाक्षी का सरयू में आत्महत्या के लिए कूदना और दो आदमियों-द्वारा उसे बर्हि समझ कर पकड़ ले जाना, दुर्दम-द्वारा लगाये गये नवीन 'कर' के विरोध में नागरिकों का वार्तालाप एवं राजगुरु वशिष्ठ जी से उचित परामर्श लेकर कुन्त-द्वारा लाये हुए बालक सगर की रक्षा का भार माता अरुन्धती को सौंपा जाना, दुर्दम का भयातुर एवं दिग्मूढ़ की तरह मनमानी आज्ञाएँ देना, सत्यनिष्ठ नागरिकों का फाँसी पर चढ़ाया जाना, वशिष्ठ के आश्रम में ऋषि-कुमारों के साथ खेलते हुए बालक सगर का अपने क्षत्रियो-चित गुणों का परिचय देना, बर्हि का वशिष्ठ के आश्रम में आकर रात के वक्त सोये हुए सगर को फिर उठा ले जाना, माहिष्मती के कारागार में पुत्र-वियोग में विक्षिप्त विशालाक्षी का मूर्छित होना, बालक सगर के खोये जाने पर वशिष्ठ जी का ब्रह्मतेज जाग्रत होना, नागरिकों का दुर्दम के विरुद्ध षड्यंत्र रचना, प्रजा के विद्रोही होने का समाचार पाकर दुर्दम का भयभीत हो जाना, इधर दुर्दम के कारा-गार को तोड़ कर सगर कुमार का निकल जाना, वहीं बर्हि को पकड़ने वाले सैनिकों से सगर का युद्ध करना और दुर्दम का पकड़ लिया जाना, अयोध्या के कारागार में दुर्दम का अपने मंत्री

त्रिपुण्ड्रक से वार्तालाप, विशालाक्षी का आगमन और बर्हि के नदी में डूब मरने पर दुःख प्रकट करना, अन्त में रानी विशालाक्षी के देह-त्याग का समाचार पाकर दिग्विजयी सगर का खिन्न होना और गुरुदेव के साथ यात्रार्थ चल देने आदि की बात सुन कर सगर का माता की आत्मतुष्टि के लिए राष्ट्र-सेवा की भीष्म-प्रतिज्ञा करना, यही इस नाटक के कथानक का सार है।

इस नाटक की सब से बड़ी विशेषता, जोकि हिन्दी के नाटकों में क्वचित् ही देखने में आती है, पात्रों के मुँह से संभाषण के साथ भावपूर्ण सूक्तियाँ एवं मर्मोक्तियाँ कहलवाना है। इस विशेषता ने नाटक का महत्त्व बहुत बढ़ा दिया है। नमूने के लिए कुछ उक्तियाँ देखियेः— "क्रोध मूर्खता का पुत्र है।" "मनुष्य ने पशुत्व के प्रत्यंगों को रगड़ कर चमकीला बना डाला है, उन्हीं को वह न्याय कह कर पुकारता है।" "जीवन स्वप्न है मृत्यु जागरण"। "संपत्तियों का अन्त विपत्ति है"। "जिस चूल्हे में आग जलती है वह खुद कभी नहीं जलता"। "मनुष्य या तो सरलता से पशु बन जाता है या फिर कठिनाई से देवता"। "अंधेरे में मनुष्य की वासना भड़कती नहीं देख पड़ती, पुण्य के भीतर छिपा हुआ पाप दिखाई नहीं देता"।— यत्न करके थकने के बाद निराशा की बारी आती है।—सिपाही का जीवन मृत्यु की भूमिका है।—सौंदर्य विष के समान है जिसका चढ़ाव मृत्यु है।—न्याय अत्याचार के नीचे पिस जाता और विवेक पागल हो जाता है।—धड़ सिर से छोटा होता है।—जो आँखें तमाम संसार को देखती हैं वे कितनी छोटी होती हैं।—सुख में मनुष्य के धर्म और दुःख में पापों का क्षय होता है।—सुख और

दुःख को छोड़ने का नाम समाधि है और ज्ञान-अज्ञान से निस्पृह रहने का नाम विवेक।

नाटक प्रारम्भ से अन्त तक बहुत ही आकर्षक और सुन्दर है। पात्रों का चरित्र-चित्रण कलात्मक ढंग से किया है।

इस नाटक में सब से सुन्दर चित्रण कुन्त और त्रिपुर का है। इन व्यक्तियों ने महाराज बाहु के लिये जितना त्याग और बलिदान किया है उसका उल्लेख भट्ट जी ने बड़े उत्कृष्ट ढंग से किया है। वशिष्ठ ऋषि का चित्रण भी कुलगुरु के अनुरूप ही हुआ है। हैहयवंशी राजा दुर्दम के अत्याचारों और प्रजा के अन्याय-नीति के विरोधों का तो और भी ओजपूर्ण ढंग से चित्रण हुआ है। राज-वैद्य का चित्रण कुछ हास्यपूर्ण है, जो स्वाभाविक है। स्त्री-पात्रों में विशालाक्षी का चरित्र सती स्त्री का एक उज्ज्वल उदाहरण है। बर्हि का प्रारम्भ में प्रतिहिंसक बन जाना और फिर उसमें मातृत्व का उदय होना स्त्री-स्वभाव सुलभ चित्रण है। पात्रों का निर्माण ऐसे ढंग से किया गया है जिस से उसमें सामयिकता आगई है और इसके द्वारा अत्याचार के विरुद्ध न्याय और सत्य की विजय का सुन्दर संदेश दिया गया है।

मैं लेखक को उनकी इस कलात्मक रचना के लिये हार्दिक बधाई देता हूँ। यह नाटक सब दृष्टियों से उपादेय और हिन्दी-साहित्य की एक खास वस्तु है।

गोपीवल्लभ उपाध्याय,

भूतपूर्व सम्पादक,

चित्रमय जगत्, पूना

५. ४. ३८.

पात्र सूची

बाहु	अयोध्या का राजा
सगर	बाहु का पुत्र
वशिष्ठ	अयोध्या के कुलगुरु
और्व	एक ऋषि
त्रिपुण्ड्रक	बाहु का मन्त्री
दुर्दम	हैहयवंशी एक राजा
त्रिपुर	दुर्दम का लघु सेनापति, पीछे बाहु का सेवक
कुन्त	दुर्दम का सैनिक
मारुति	दुर्दम का सेनापति
शात	दुर्दम का गुप्तचर

वैद्य, सैनिक, नागरिक शिष्य आदि।

स्त्री पात्र

विशालाक्षी	बाहु की रानी
बर्हि	बाहु की छोटी रानी
अरुन्धती	वशिष्ठ की स्त्री

पहरेदार स्त्री, और्व की धर्मपत्नी आदि।

पहला अंक

पहला दृश्य

समय बारह बजे दोपहर।

(सघन बन का एक प्रदेश, जहाँ झिल्ली झंकार रही है, कभी कभी कोई पत्ती चहक उठता है। गहरा सुनसान है। राजा बाहु एक घड़ा हाथ में लिये नदी की ओर जाते हुए उस बन में थक कर बैठे हैं। उनके शरीर पर बहुत से घाव हैं। शरीर पर एक उत्तरीय है और धोती पहने हैं।)

बाहु—(दुख से बेचैन होकर) किसे मालूम था, यह दिन जल के प्रवाह की तरह मेरी ओर ही दौड़ा आ रहा है। आज ज्ञात हुआ, संसार की दो आँखें हैं—एक सुख और दूसरी दुख।

(हाथ के घाव को कपड़े से ढक कर मक्खियाँ उड़ाते हुए)

सब ओर अँधेरा है, कहीं भी कुछ नहीं है। आः यह मेरे ही आँसुओं का सागर है, जिसमें मैं डूबने चला हूँ। मेरे ही हृदय की आग है, जिससे मेरे

भाग्य की तहें जल उठी हैं। (घड़ा उठाकर चलने का उपक्रम करते हुए) चलूँ, रानी वन में मेरी प्रतीक्षा कर रही होगी । चलूँ·····इस जीवन में यह भी देखना था। (आदमियों के पैरो की आहट सुनकर) क्या वे लोग अभी तक मेरा पीछा कर रहे हैं ? मेरा राजपाट, धन, वैभव छीन कर भी उन्हें सन्तोष नहीं हुआ ? (आहट पास ही सुनाई देती है) आगये, आगये। (घड़ा वृक्ष के नीचे रख कर छिप जाते हैं)

(कुछ सैनिकों का प्रवेश)

पहला—उस मुनि बालक ने जो बताया था वह यही बन तो है !

दूसरा—ठीक यही ।

तीसरा—मालूम तो ऐसा ही होता है ।

पहला—परन्तु वह है कहाँ, ढूँढो, जल्दी ढूँढो, पाताल से भी ढूँढ कर उसे लाना होगा। पकड़ लाना होगा समझे !

दूसरा—देख तो यही रहा हूँ, उसे यमराज के यहाँ से भी पकड़ लाना होगा। (देखने लगता है)

तीसरा—(इधर-उधर देखकर) जहाँ कहीं भी हो, उसे ढूँढना ही होगा। क्यों सेनापति ?

पहला—नहीं तो हमारी कुशल नहीं। समझे ! जाओ ढूँढो। (दोनों दो दिशाओं में चले जाते हैं) बहुत से काम जो हम नहीं चाहते, करने पड़ते हैं। आजकल 'बलवान' का अर्थ है दूसरों को जीने न देना ! (फिर एक दूसरे से मिल जाते हैं)

दूसरा—कहो, कुछ पता लगा !

तीसरा—कहीं भी नहीं । भला, अब खोजने की क्या आवश्यकता है ?

दूसरा—यह खोजना तो ऐसा ही है, जैसे आँख फोड़कर प्रकाश ढूँढ़ना ।

तीसरा—मरे हुए में प्राण ढूँढ़ना नहीं क्या ?

दूसरा—आज समझ पड़ा ?

तीसरा—उसके मिलने से अब क्या लाभ है !

दूसरा—फिर क्यों ढूँढ़ते हो !

तीसरा—ढूँढ़ना है इसलिये ढूँढ़ रहे हैं ! क्रोध...शान्त...करने के लिये ढूँढ़ रहे हैं ।

दूसरा—'क्रोध' मूर्खता का पुत्र है । बाहु ने क्या किया जो उसका राज्य छीनकर भी उसका पीछा किया जा रहा है ?

तीसरा—निरे भौंदू ही रहे !

दूसरा—क्यों ?

तीसरा—हमारे महाराज विशालाक्षी को चाहते हैं । वह राजा बाहु के साथ यहाँ कहीं बन में चली आई है !

दूसरा—(**भड़ककर**) बड़ी बुरी बात है ! घोर अन्याय है ?

तीसरा—संसार में न्याय-अन्याय कुछ भी नहीं है, समझे ! क्या दूसरे का राज्य छीनना न्याय है, बिना बात युद्ध ठानकर हजारों

निरीह प्राणियों की हत्या करना न्याय है ? यहाँ न्याय अन्याय की कोई परिभाषा नहीं है। मनुष्य ने पशुता के अंगों को रगड़कर उन्हें चमकीला बना डाला है, उन्हें ही वह 'न्याय' कह कर पुकारता है।

दूसरा—तो क्या संसार में न्याय है ही नहीं ?

तीसरा—है, परन्तु वह दिन के प्रकाश और रात के स्वप्न की चीज़ नहीं है। वह राजाओं के महलों में नहीं जगमगाता। नदी की लहरों पर किरणों की झिलमिलाहट की तरह कभी-कभी वह हृदय में चमक उठता है। वह क्या है, हम क्या जानें !

दूसरा—हम तो सिपाही हैं। जो 'आज्ञा' के पीछे आँखें बन्द करके चलते हैं।

तीसरा—जिन्होंने इसके सिवा और कुछ सीखा ही नहीं।

दूसरा—कदाचित् सीखना हमारा काम भी नहीं है।

तीसरा—क्या राजा बाहु को पकड़ना न्याय है ?

दूसरा—दिखाई तो नहीं देता !

तीसरा—फिर तुम उसे पकड़ कर क्यों 'अन्यायी' बन रहे हो, त्रिपुर !

दूसरा—(गहरे सोच में पड़ कर) तुम ठीक कहते हो, हम लोग राजा की इच्छा के दास हैं। लहर का अस्तित्व वायु का प्रवाह है। मैं न्याय-अन्याय कुछ नहीं जानता।

तीसरा—परन्तु मैं तो इसे अन्याय ही कहूँगा। मेरा प्राण बहुत काल से इस अन्याय के तिरस्कार को छटपटा रहा है। मैं राजा का साथ न दूँगा।

दूसरा—न दोगे ! ठीक है। तुम ठीक कहते हो। मेरे हृदय में भी जैसे कोई चाबुक मारकर प्राणों को अधीर कर रहा है। हृदय को मथे डालता है, पर मैं कुछ नहीं कह सकता। यह सब क्या हो रहा है, मैं कुछ नहीं जानता; मैं कुछ भी नहीं जानता। (एक ओर चलने लगता है)

तीसरा—कहाँ चले त्रिपुर !

दूसरा—कहाँ चला, कुछ नहीं मालूम। चारों ओर आग धधक रही है। प्रलय का समुद्र लहरा रहा है। कुछ नहीं मालूम ! (चला जाता है)

(पहले सैनिक का प्रवेश)

पहला—कुन्त, ओ कुन्त !

दूसरा—हाँ सेनापति, क्या आज्ञा है ?

पहला—आज्ञा क्या बार-बार दी जाती है ! कई बार समझाना होगा क्या ! त्रिपुर कहाँ है !

दूसरा—त्रिपुर तो चले गये।

पहला—कहाँ चला गया ?

दूसरा—न मालूम कहाँ चले गये ?

पहला—न मालूम कहाँ चला गया ! तुम क्या कहते हो कुन्त! अच्छा, बाहु मिला ?

पहला—नहीं मिला, ज़रूर मिलेगा। उसे मिलना ही चाहिये। विशालाक्षी उसके साथ है उसे मिलना ही होगा। आओ ढूँढें! (दोनों एक ओर चले जाते हैं। बाहु वहीं वृक्ष की ओट से निकल कर एक तरफ़ बैठ जाते हैं)

बाहु—ओ बड़ी पीड़ा है। (कमजोरी से लेट जाता है। त्रिपुर घूमता हुआ उसी स्थान पर आ निकलता है। चलते चलते उस का पैर बाहु के शरीर से छू जाता है) ओः! जीवन स्वप्न है, मृत्यु जागरण! आज मेरे जागरण का ब्राह्ममुहूर्त है।

त्रिपुर—यह कौन? (त्रिपुर ठिठक कर उधर देखता है) जीवन स्वप्न है और मृत्यु जागरण। अरे, यह तो महाराज बाहु हैं! (बाहु के पास जाता है और उन्हें आँख बन्द किये हुए देख कर) क्या कहा, जीवन स्वप्न है और मृत्यु जागरण। महाराज, महाराज!

बाहु—(आँखे खोल कर) 'महाराज' कह कर तुम किसे पुकारते हो? महाराज एक स्वप्न था जो तुषार-कणों की तरह ढल कर सूख गया। महाराज एक स्वप्न था जो फूल की तरह खिला और डाल से टूट गया। आह, यदि बसन्त को पतझड़ का ज्ञान होता!

त्रिपुर—(बाहु के शरीर पर हाथ फेरता हुआ) बड़ा अन्याय है, परन्तु यह कौन जानता है, न्याय-अन्याय क्या है?

बाहु—उधर प्रतीक्षा में डूबी रानी मेरी राह देख रही होगी!

त्रिपुर—(ठंडी साँस लेकर) संसार के सम्पूर्ण दोषों का अन्त मृत्यु है, गुणों का भी तो। महाराज, कैसी अवस्था है ?

बाहु—(आँखें खोलकर) संसार के गुणों का भी तो। चिर निद्रा की तरह प्यारे लगनेवाले तुम···!

त्रिपुर—(हाथ जोड़ कर) त्रिपुर।

बाहु—त्रिपुर, दुर्दम का लघु सेनापति त्रिपुर ? क्या तुम मुझे पकड़ने आये हो त्रिपुर ! नहीं, तुम मुझे न पकड़ना। हा, मेरी रानी। अब मेरे पास कुछ नहीं है···। अच्छा, तो मुझे ले चलो। चलो ! तुम आँखें फाड़कर क्या देख रहे हो त्रिपुर ! सुना है, दुर्दम रानी को भी पकड़ना चाहता है। विशालाक्षी ने उस का क्या बिगाड़ा है ? मैं तुम्हारे साथ चलता हूँ। चलो, मुझे कोई संकोच नहीं है।

त्रिपुर—मेरा विचार बदल गया है। मैं न्याय ढूँढ़ना चाहता हूँ। आपके साथ अन्याय हुआ है।

बाहु—तुम ठीक कहते हो त्रिपुर ! मेरे साथ अन्याय हुआ है, पर मैंने किसके साथ न्याय किया है, यह मैं नहीं जानता। आज से पहले मुझे न्याय-अन्याय का ज्ञान ही कब था ? हा, बड़ी पीडा हो रही है।

(विशालाक्षी को लिये कुन्त का प्रवेश)

त्रिपुर—हैं यह क्या ?

बाहु—क्या है त्रिपुर !

त्रिपुर—महारानी विशालाक्षी।

बाहु—रानी विशालाक्षी, वह यहाँ कैसे ? उसे मैं बन में ठहरा आया था। (कुन्त मूर्च्छित रानी को राजा के पास ही एक शिलातल पर लिटा देता है)

त्रिपुर—यह क्या कुन्त !

कुन्त—(हँस कर) हरिणी ने व्याघ्र का पेट फाड़ डाला !

बाहु—(आश्चर्य से) अरे, रानी को क्या हुआ (बड़े कष्ट से उठकर रानी को देखता है। रानी धीरे-धीरे आँखें खोलकर बाहु की ओर देखने लगती है और झपटकर राजा से लिपट जाती है)

विशालाक्षी—मेरे महाराज ! (फिर आँखें बन्द कर लेती है)

त्रिपुर—कुन्त, यह क्या है ?

कुन्त—महारानी ने सेनापति मारुति को मार डाला। वह और्व के आश्रम से कुछ दूर नदी के किनारे मरा पड़ा है।

त्रिपुर—महारानी ने मारुति को मार डाला, यह कैसे !

कुन्त—तुम्हारे चले जाने पर मारुति एकदम मुझे मिल गये। मैं उनके साथ महाराज बाहु को ढूँढ़ने चला। घूमते-घूमते मैं आगे निकल गया। इतने में पीछे से कुछ कोलाहल सुनाई दिया। लौट कर देखा कि मारुति विशालाक्षी को पकड़ कर घोड़े पर चढ़ाने का प्रयत्न कर रहा है। रानी ने छुरा निकालकर मारुति के पेट में भौंक दिया। मारुति उसी समय भूमि पर गिर पड़ा, परन्तु उस

झगड़े में शिलातल पर गिरने से रानी के सिर में कुछ चोट लगगई और मूर्च्छित अवस्था में ही मैं उन्हें लेकर इधर आ रहा हूँ।

बाहु—रानी के सिर में चोट आई है!

त्रिपुर—तुम्हें क्या मालूम था कि महाराज इस बन में हैं!

कुन्त—उस ऋषिबालक ने न बताया था? हमें मालूम था कि महाराज यहीं कहीं बन में होंगे। बीच बीच में संज्ञा प्राप्त करते ही रानी ने भी महाराज का नाम लेकर इसी बन की ओर संकेत किया था।

बाहु—(उठ कर) यह ठीक हुआ। अब मैं सुख से मरूँगा। त्रिपुर, मेरे जी में यही एक अभिलाषा थी। मेरा शरीर पीड़ा से जल रहा था और मेरी आत्मा प्रतिहिंसा से। मुझे राज्य पाने की इच्छा नहीं रही। सन्तोष से मेरी यह प्यास बुझ गई। सम्पत्तियों का अन्त विपत्ति है, परन्तु सन्तोष अमर है। आज मुझे सन्तोष है। (जोर से चिल्ला कर) बहुत देर बाद।

(रानी फिर आँखें खोल देती है)

विशालाक्षी—(राजा की ओर देख कर) महाराज! हा, बड़ी पीडा है। (मुस्करा कर) मेरे जीवन की नाव सदा किनारे के पास बही है। मध्यान्ह की निखरती रश्मि-राशि में जब मैंने आँखें खोलीं तो उस प्रतिबिम्ब में मुझे तुम्हारी ही परछाँई देख पड़ी! अस्थिरता के अथाह सागर में विश्वास की नाव डाल कर उसी दिन से तुम्हें खोजना प्रारम्भ किया। जैसे मेरे प्राणों के कम्पन को किसी अदृष्ट ने

तुम्हारे साथ बाँध दिया हो। यौवन की इठलाहट में मैंने देखा कि तुम मेरे पीछे खड़े हो; सामने, दायें और बायें भी। उसके बाद...। उसके बाद, (एक दम आँखें बन्द कर लेती है) उसके बाद हम और तुम एक नाव में बैठे । दोनों के हाथ में एक एक डाँड था। इसी समय मेरी नाव से एक नाव और...।

बाहु—रानी, बहुत मत बोलो ! मेरे सुख में तूफ़ान उठ रहा है। बहुत मत बोलो ! इस जीवन-रथ के दो पहिये हैं, एक पुरानी स्मृति और दूसरी नई आशा। परन्तु मेरी गाड़ी में···अब एक पहिया रह गया है। मुझे अपने सुख में डूब जाने दो रानी ! डूबजाने दो ! हा, पीडा !

कुन्त—त्रिपुर, (धीरे से) इन दोनों की क्या अवस्था है ? क्या इन्हें यों ही मर जाने देना होगा !

त्रिपुर—नहीं, कभी नहीं।

कुन्त—तो फिर...।

त्रिपुर—हाँ, महाराज को जिलाना ही होगा, रानी को भी। आओ, किसी वैद्य को ढूँढें।

बाहु—(उन दोनों से) मेरा वैद्य मेरे पास है। त्रिपुर, आज मेरे आनन्द का पात्र लबालब भर गया है, जो खाली हो कर भी मेरे स्वर्ण संसार में नहीं समा पाता। क्या ही अच्छा होता कि हम

दोनों आज की आँखों से अतीत के धुँधले पन्नों को एक बार फिर पढ़ पाते ?　　　　(दोनों चले जाते हैं)

विशालाक्षी—हाँ एक बार...। प्रियतम...। (राजा रानी के सिर पर हाथ फेरता है)

पटाक्षेप

दूसरा दृश्य

(महाराज बाहु की दूसरी रानी बर्हि बाल बिखेरे हुए एक वृक्ष के नीचे खड़ी उस से लिपटी लता की शाखा तोड़ कर मसल रही है)

बर्हि—(क्रोध से) क्या कोई उपाय अब नहीं बचा ! उस दिन से आज तक एक भी उपाय हाथ नहीं आया ! आशा का विष अब भी नहीं फैला क्या ? (जोर से पत्ते मसलती हुई) तू वृक्ष के अंक से लिपट कर मुझे जलाना चाहती है ? तुझे नोच कर धूल में मिला दूँगी ! (तेज़ी से पत्ते नोंचना प्रारम्भ कर देती है फिर तना पकड़ कर वृक्ष से लिपटी लता को खींच कर पैरों से मसलने लगती है । यहाँ तक कि उसका एक भी पत्ता नहीं बचता) अब बोल ! मेरे हृदय में आग धधक रही है । उसकी लपटों ने मेरा सोने का संसार जला डाला है । अब तू भी बच नहीं सकती । पाताल फोड़ कर तुझे ढूँढ़ निकालूँगी विशालाक्षी ! तुझे अभिमान हो गया है । मेरे हृदय की आग में तुझे जलना होगा । जिस चूल्हे में आग जलती है वह कभी नहीं जलता, किन्तु हजारों मन लकड़ी जल जाती है । मैं आज वही धुँआ देखना चाहती हूँ । मैं आज वही आग लगाऊँगी । जलाऊँगी...जल...। (तीव्र दृष्टि से देखने लगती है)

(कुन्त और त्रिपुर का प्रवेश)

कुन्त—देखो, वह सामने कौन है ।

त्रिपुर—(ध्यान से देखकर) इतना तो निश्चय है कि वह कोई है ज़रूर !

कुन्त—तुम्हें क्या दिखाई देता है !

त्रिपुर—यही कि वह कोई है ।

कुन्त—जीवित या मृत ।

त्रिपुर—(ध्यान से देखने लगता है)

कुन्त—पागल !

त्रिपुर—हूँ !

त्रिपुर—कोई स्त्री है ! (चलो देखें)

कुन्त—किन्तु हमें तो वैद्य को ढूँढ़ना है, महाराज की अवस्था पल पल बिगड़ती जा रही है ।

त्रिपुर—हाँ, चलो हमें क्या कोई भी हो । (दोनों दूसरी ओर बढ़ते हैं, रानी उछल कर उन दोनों के सामने आ जाती है)

कुन्त—(डर कर) राक्षसी !

त्रिपुर—ठहरो !

बर्हि—(घूम कर) मैं राक्षसी हूँ ।

त्रिपुर—तुम कोई हो ! हमें तुम से कोई काम नहीं । आओ कुन्त चलें ।

बर्हि—सुनो !

कुन्त—क्या सुनें, हम कुछ नहीं सुनना चाहते ।

त्रिपुर—हमें तुम से कोई काम नहीं है। (चलने लगते हैं)

बर्हि—सुनो, तुम कौन हो, कहाँ जा रहे हो ?

कुन्त—(ठहर कर) इस सामने बन में महाराज बाहु क्षत-विक्षत अवस्था में पड़े हैं, उनकी रानी विशालाक्षी भी अस्वस्थ हैं। हम वैद्य की खोज में हैं।

बर्हि—महाराज घायल हो कर बन में पड़े हैं, विशालाक्षी भी। (प्रसन्नता दबा कर) जाओ, तुम यहाँ से पाँच कोश त्रिदशक नामक गाँव के वैद्य को बुला लाओ। मैं महाराज की ओर जाती हूँ। (जाने लगती है)

त्रिपुर—(आश्चर्य से) तुम कौन हो ?

बर्हि—बर्हि, महाराज की दूसरी रानी। (त्रिपुर और कुन्त दोनों झुक कर प्रणाम करते हैं, रानी शीघ्रता से उस ओर दौड़ जाती है)

त्रिपुर—बड़ी भयंकर है।

कुन्त—आँखों से आग निकल रही थी। देखा तुमने !

त्रिपुर—बाँसों में रगड़ खाकर निकली हुई आग के समान यह अपने आप धधक रही थी।

कुन्त—(देख कर) क्या यही मनुष्यता है !

त्रिपुर—सब कुछ हो सकता है, पर मनुष्य तो जैसे यह है ही नहीं। मनुष्य होना तो बड़ा कठिन है, मनुष्य या तो सरलता से पशु बन जाता है या फिर कठिनाई से देवता। यह दोनों ही मार्ग जीवन और

समाज के लिये अहितकर हैं। विशालाक्षी देवी है और बर्हि...दोनों ही अयोग्य हैं। दोनों ही समाज के अयोग्य। इसी लिये कहता हूँ मनुष्य होना तो सब से कठिन है।

कुन्त—ठीक कहते हो!

त्रिपुर—कदाचित्, पर मैं ठीक कहाँ कह पाया हूँ कुन्त! यह बड़ा कठिन है कहना कि मैं ठीक कह रहा हूँ। मुझे तो किसी बात पर विश्वास ही नहीं होता। मेरे हृदय में एक आग सी जला करती है। त्रिपुर, इसने मेरे जीवन में विषमता, अविश्वास, सन्देह और अनास्था भर दी है।

कुन्त—हूँ!

त्रिपुर—बस, अब कुछ भी तो नहीं। कुछ भी तो नहीं। मुझे यह बात बड़ी खल रही है कि मैं महाराज दुर्दम के प्रति सच्चा न रह सका कुन्त! किन्तु मेरा हृदय उनके अन्याय से प्रताडित हो कर विमूढ़ सा हो रहा है; विमूढ़ सा हो रहा है।

कुन्त—त्रिपुर, मैंने भी तुम्हारा ही अनुसरण किया है। मुझे महाराज दुर्दम से घोर घृणा हो गई है।

त्रिपुर—ठीक है। मानवता का सब से बड़ा उपयोग है दुखी के ऊपर दया। तुमने देखा?

कुन्त—क्या?

त्रिपुर—बर्हि...(घबराकर) बर्हि को ? तुम जाओ कुन्त ! लौट जाओ ।

कुन्त—परन्तु वह तो...।

त्रिपुर—हाँ, दूसरी रानी होते हुए भी वह विश्वास के योग्य नहीं है कुन्त ! मेरे हृदय में उसकी तीव्रता जैसे कोई संदेह उत्पन्न कर रही है । स्त्री चरित्र तो तुम जानते ही हो !

कुन्त—परन्तु मैं तो वैद्य को ढूँढ़ने चल रहा हूँ न ?

त्रिपुर—'मैं तो नहीं', तुम्हें लौट जाना होगा । लौट जाओ ! इसी में हमारी कुशल है, इसी में साध्वी विशालाक्षी, महाराज बाहु का कल्याण है । लौटो !

कुन्त—अच्छी बात है । (लौट जाता है)

त्रिपुर—अग्नि में संसार को प्रकाशित करने की शक्ति है, परन्तु वह जला भी देती है । सौन्दर्य क्रूरता के अंक में सोता है । जगत यह कम ही जान पाया है । ओः बर्हि...चलूँ...वैद्य को खोजना है । चलूँ (चला जाता है)

पटाक्षेप

तीसरा दृश्य

स्थान—अयोध्या का राजदरबार

(अयोध्या के सिंहासन पर विजयी दुर्दम बैठा है । उसके सहायक आस पास खड़े हैं, बाहु के पक्ष के कुछ प्रमुख लोग हाथ पैर बाँधकर लाये गये हैं, सभा में सन्नाटा है)

बन्दी—हम यहाँ किस लिये लाये गये हैं ?

दुर्दम—(बाहु के मंत्री त्रिपुंड्रक से) त्रिपुंड्रक, तुम्हें मेरी सत्ता स्वीकार है ?

बन्दी—सत्ता, सत्ता कैसी !

त्रिपुंड्रक—नहीं, कभी नहीं ।

बन्दी—तुम कौन हो !

दुर्दम—(क्रोध से) क्या तुम्हें यह भी बताना होगा ! बाहु के हारने और प्राण लेकर भागने पर भी तुम्हें यह न मालूम हो सका !

बन्दी—याद तो कर रहा हूँ । यह भी याद आ रहा है कि हम लोग शान्ति के हिंसक, पाप के ठोस पुंज, पशुता के पुजारी के सामने खड़े हैं ।

दुर्दम—अरे मूर्ख, नहीं जानता तू क्या कह रहा है ! क्या तुझे अपने प्राणों की चाह नहीं है ?

बन्दी—प्राणों की, प्राणों की क्या दुर्दम ! मैं जानता हूँ, बादलों में सूर्य के छिप जाने पर भी मेघों का राज्य नहीं हो सकता।

त्रिपुंड्रक—तू अन्यायी है !

दुर्दम—(मंत्री से) इनको फाँसी दे दो। ये मुझे अन्यायी कहते हैं।

बन्दी—हाँ, फाँसी देदो। इस से अन्याय दूर हो सकेगा। हा हा ! न्यायी बनने का यह सब से सुन्दर उपाय है दुर्दम !

दुर्दम—(झल्ला कर) अपने यश को बढ़ाना प्रत्येक राजा का कर्तव्य है। वही मैंने किया। सदा से यही होता चला आया है।

त्रिपुण्ड्रक—सदा से यही होता चला आया है ! खूब, सदा से निरीह प्रजा का बध करना राजा का 'धर्म' रहा है। दूसरे के राज्य को हड़प लेना सदा से होता चला आया है। यही राजा का धर्म है ? क्या खूब, यदि राजाओं की यही अवस्था रही तो एक दिन राजा का अस्तित्व नहीं रहेगा। प्रजातंत्र शासन की सब से सुन्दर व्यवस्था समझी जायगी ! 'राजा' स्वप्न की वस्तु होगी दुर्दम !

दुर्दम—राजा, राजा प्रजा के हृदय का देवता है। प्रजा और राजा दोनों सापेक्ष्य हैं। हा हा 'राजा स्वप्न की वस्तु होगी' मूर्ख !

त्रिपुड्रक—राजा की व्यवस्था प्रजा के सुख के लिये है उसके नाश के लिये नहीं।

दुर्दम—मैं कहता हूँ राजा ईश्वर का रूप है, उसकी वाणी में

न्याय, इच्छा में शक्ति और उस के सुख में प्रजा का सुख है। वह भगवान् का अंश है।

बन्दी—भगवान् का अंश उस समय है जब उसकी दृष्टि में प्रजा का विलास, वाणी में प्रजा की हित-कामना, बल में प्रजा की रक्षा हो। राजा प्रजा के प्राणों का प्रतिनिधि, उस के सुखों का रक्षक है। तू पापी है! तूने प्रजा के लिये नहीं अपने लिये, अपनी लप-लपाती विषैली जीभ के स्वाद के लिये इतने प्राणियों का रक्त पिया, प्रजा के सुख को नाश, भयंकरता, मृत्यु का दृश्य बना डाला! तू पापी है!

दुर्दम—(क्रोध में आकर) मैं यह सब कुछ नहीं सुनना चाहता। मेरी विशाल भुजाऐं, मेरी क्रूर हुंकार तुम्हारे जैसे कुत्तों के भौंकनें पर ध्यान नहीं दे सकतीं। (सिपाहियों से) ले जाओ, इन दुष्टों को बन्द कर दो।

त्रिपुंड्रक—अभिमान पाप का सब से प्रिय मित्र है। मद पतन की खाई की पहली सीढ़ी है। विवेक कभी वहाँ ठहरा नहीं देखा गया! राजा, तुम्हारे इस मद का अन्त मृत्यु है। तुम देखोगे तुम ने जिनका नाश किया है जो वंशपरंपरा से दयालु होते आये हैं, उन्हीं की सन्तान अयोध्या के सिंहासन पर राज्य करेगी। (सिपाही ले जाते हैं)

दुर्दम—(क्रोध से) दुष्ट का यह साहस...उपदेश दे गया। "उन्हीं की सन्तान अयोध्या के सिंहासन पर राज्य करेगी" (दाँत पीसता हुआ) देखूँगा ! आँधी का प्रलयंकर प्रवाह, नाश के लिये घिरी घटाएँ, पृथ्वी के प्राणों में हडकम्प मचानेवाली बिजलियाँ भी मुझे, मेरी इच्छा को नहीं रोक सकती। मूर्ख, संसार कितना पागल है ? बल, बल ही तो सब कुछ है। हाँ, मारुति, त्रिपुर और कुन्त का क्या समाचार है !

मंत्री—कुछ भी ज्ञात न हो सका प्रभो !

दुर्दम—बाहु को पकड़ने के लिये कुछ और सैनिक भेजो। मैं बाहु और विशालाक्षी को जल्दी ही पकड़ना चाहता हूँ।

मंत्री—ऐसा ही होगा।

दुर्दम—बाहु की दूसरी रानी वहीं पकड़ी गई !

मंत्री—नहीं महाराज !

(द्वारपाल का प्रवेश)

द्वारपाल—(प्रणाम करके) जय हो महाराज की। बाहर एक गुप्तचर खड़ा है।

दुर्दम—गुप्तचर, शीघ्र भेज ! कौन होगा ? (गुप्तचर का प्रवेश)

गुप्तचर—(प्रणाम करके) महाराज ! सेनापति मारुति यहाँ से थोड़ी दूर सरयू के किनारे मरे मिले हैं। उनके पेट में किसी ने छूरा भोंक दिया। उसी से उनकी मृत्यु हुई है।

दुर्दम—(आश्चर्य से) हैं, मारुति को मार डाला ! त्रिपुर और कुन्त कहाँ हैं ?

गुप्तचर—उन दोनों का तो कुछ पता नहीं लग रहा है !

दुर्दम—क्या तुम बता सकते हो कि मारुति को किसने मारा ?

गुप्तचर—यह तो नहीं मालूम हो सका देव, परन्तु उस स्थान पर (खंजर निकाल कर) यही मिला, इसमें राजा बाहु का नाम लिखा है। शायद उसी के किसी आदमी ने इसे मारा होगा। महाराज, बाहु तो घायल होकर कहीं भाग गया है।

दुर्दम—अब तो बाहु को निश्चय ही पकड़ना होगा, विशालाक्षी को भी। मंत्री, और सैनिक भेजो ! हा, मारुति मारा गया !

मंत्री—पहले ही सैनिक भेज दिये गये हैं महाराज, एक प्रार्थना है, हम लोगों का शत्रु बाहु है, उसकी रानी को...।

दुर्दम—हाँ, उसकी रानी को भी मैं पकड़ना चाहता हूँ। वह गर्भवती है। उसके गर्भ को नष्ट कर डालना चाहता हूँ। हैहयवंश के निष्कंटक होने का यही एक उपाय है। अयोध्या के सिंहासन पर हैहयवंशी ही राज्य करने के अधिकारी हैं।

मंत्री—ठीक है देव !

दुर्दम—हम लोग महाराज ययाति के पुत्र होनें के कारण राज्याधिकारी नहीं समझे जाते थे। बहुत दिन हुए। एक दिन मैं शिकार से थक कर सरयू के किनारे बैठा था कि इतने में एक हिरन पानी पीने

आया। मैंने उसे तीर मारा। उधर एक नाव में न जाने कहाँ से घूमता हुआ बाहु भी आ निकला। गुरु वशिष्ठ उसके साथ थे। बाहु ने हिरन को मारने का दोषी मुझे ठहराया। उसके साथियों ने मेरी निन्दा की, मेरे वंश की निन्दा की। मुझे कायर, अत्याचारी, हत्यारा कहा। वशिष्ठ ने भी मुझे बहुत बुरा भला कहा। मैंने क्रोध में आकर शस्त्र उठा लिये। मैं बाहु को मारना ही चाहता था कि वशिष्ठ ने क्रोध की दृष्टि से मुझे निष्प्रभ कर दिया और मैं हार कर चला गया। आज उसी का परिणाम है कि मैंने बाहु को हराया।

मंत्री—क्या इस युद्ध में वशिष्ठ ने बाहु की सहायता नहीं की महाराज!

दुर्दम—नहीं मंत्री, तुम नहीं जानते। उसी समय मैंने युद्ध क्यों नहीं किया। जब मैंने देखा कि वशिष्ठ तीर्थयात्रा को गये हैं और जल्दी उनके लौटने की सम्भावना नहीं है तभी मैंने बाहु से युद्ध ठाना। (घबराकर) मैं वशिष्ठ से बहुत डरता हूँ।

मंत्री—वशिष्ठ तो आ गये हैं।

दुर्दम—अब मुझे उनसे कुछ भी भय नहीं है। वे मेरा कुछ भी नहीं कर सकते। इस समय राज्य की नींव को दृढ़ करने की आवश्यकता है। वही मैं कर रहा हूँ। देश देशान्तरों के राजाओं ने मेरा आधिपत्य स्वीकार कर लिया है। केवल अयोध्या को वश करना भर शेष रहा है। मैं हैहयवंश की यशोध्वजा अयोध्या के सिंहासन

पर सदा के लिये स्थिर कर देना चाहता हूँ। मंत्रिन्, सदा के लिये।

सब—हम प्रतिज्ञा करते हैं कि हैहयवंश की रक्षा के लिये जीवन तक दान दे देंगे।

दुर्दम—ठीक है! मुझे तुम जैसे क्षत्रियों से यही आशा है। अच्छा, अब सभा समाप्त होती है।

(जय-ध्वनि के साथ सभा समाप्त होती है)

पट-परिवर्तन

———

चौथा दृश्य

(वनपथ में एक वैद्य खड़ा है। कभी कभी थैली से कोई दवा निकाल कर)

वैद्य—वात, पित्त, कफ़। कफ़, पित्त, वात। पित्त, वात, कफ़। आज, कल, परसों की तरह एक समस्या हो गई है। कभी दूर ही नहीं होती। इन औषधियों का क्या करूँ। समाप्त होने पर ही नहीं आतीं। रोगी ढूँढ़ने पर नहीं मिलते। बीमारी कलयुगी स्वास्थ्य की तरह हवा हो गई है। जब किसी जाते आते आदमी की नाड़ी पकड़ता हूँ, वह मुझे घूरने लगता है। जैसे उसका कुछ छीन लिया हो। झटक कर हाथ छुड़ा लेता है। कहता हूँ ठहरो, औषध दूँगा। पर वहाँ सुनता कौन है! पागल समझते हैं। मैं पागलों को भी ठीक कर सकता हूँ। कहता हूँ मिर्च अधिक न खाओ, पित्त बढ़ जायगा। बहुत मत दौड़ो, वायु कुपित हो जायगा, परन्तु मिर्च में कमी नहीं होती। दौड़ लगातार बढ़ती ही जाती है। अधिक पानी पीने से मन्दाग्नि हो जाती है, पर लोग घड़ों पानी पीकर भी सन्तोष नहीं करते। वह (सामने देख कर) कौन दौड़ रहा है? अरे भाई, ठहरो, ठहरो, दौड़ने से वायु कुपित हो जाता है।

(दौड़ते हुए त्रिपुर का प्रवेश)

तुम दौड़ रहे हो!

त्रिपुर—क्यों न दौड़ूँ! हटो, मत बोलो।

वैद्य--ठहरो, ज़रा नाडी तो दिखाओ !

त्रिपुर—(आश्चर्य से) नाडी, नाडी क्यों !

वैद्य—तुम्हारा वायु कुपित हो रहा है, ठहरो ।

त्रिपुर—मेरा या तुम्हारा ! बात क्या है ?

वैद्य—मैं वैद्य हूँ ।

त्रिपुर—वैद्य, मैं तुम्हें ही तो ढूँढ़ रहा था !

वैद्य—कोई बीमार है क्या ? मेरे पास अनन्त औषधियाँ हैं । पर यह तो बताओ हाहाहाहा, हाहाहाहा, बहुत देर बाद। अच्छा हुआ । तुम बीमार हो ? तुम्हारा वायु कुपित हो रहा है । तुम्हीं हो न ! (सोच कर) अच्छा, नाडी कैसी चल रही है ? वात का प्रकोप है या पित्त का, उसके लिये तुम्हें कठिनता न होगी । सिर में दर्द, पेट की पीडा। निःसन्देह ऐसे रोगी के लिये मेरे पास एक रामबाण औषधि है । एक ही बार में बोलो, उत्तर दो !

त्रिपुर—महाराज बाहु घायल हो गये हैं, उनकी रानी के सिर में चोट लगी है ।

वैद्य—(सोचकर) दोनों को एक ही बीमारी । अच्छा, नाडी की गति ?

त्रिपुर—मुझे नहीं मालूम ।

वैद्य—प्यास तो नहीं लगती, भूख कैसी है, नींद आई, घबराने की कोई बात नहीं । हाँ एक बात बताओ, बातें कैसी करते हैं, पथ्य क्या

दे रहे हो ! स्वर कैसा है !

त्रिपुर—चलिये !

वैद्य—ठीक है चलूँगा। परन्तु चलने से पहले रोगी के सम्बन्ध में जान लेना वैद्य का धर्म है। चरकऋषि ऐसा ही तो कहते हैं। सुश्रुत का नाम तो तुमने अवश्य सुना होगा, उनकी भी यही राय है। हाँ अश्विनी कुमारों ने इस सम्बन्ध में...।

त्रिपुर—रोगियों की अवस्था अच्छी नहीं है। जल्दी करो !

वैद्य—ठीक है, अवस्था अच्छी न होना ही तो रोग है। सुनो वात, पित्त, कफ इन तीनों की विषमावस्था...।

त्रिपुर—आप चलेंगे या सब कुछ यहीं कहते रहेंगे।

वैद्य—हाँ, हाँ, चलने के लिये ही तो घर से निकला हूँ, हर रोज़ प्रातःकाल औषधियों का थैला लेकर रोगी ढूँढ़ने निकलता हूँ। पर रोगी मिलते कहाँ हैं। आज तुम मिले हो, एक के लिये नहीं दो रोगियों के लिये। यह भी ठीक ही हुआ।

त्रिपुर—चलिये वैद्यराज !

वैद्य—हाँ, यह ठीक कहा, वैद्यराज ! आज बहुत दिनों बाद यह शब्द सुनने को मिला है। तुम बड़े चतुर हो ! रोगी की अपेक्षा भी... रोगी का क्या नाम बताया ?

त्रिपुर—महाराज बाहु और उनकी रानी का नाम विशालाक्षी !

वैद्य—बाहु, विशालाक्षी। क्या कारण होगा रोग का ? (सोच कर

समझा, बाहु के बाहु में और विशालाक्षी की आँख में। यही न! हाँ, भूल गया, तुमने क्षत कहा था। घाव कैसे हुए, कैसे शस्त्र थे!

त्रिपुर—कैसे वैद्य से पाला पड़ा है! अरे भाई चलोगे!

वैद्य—सब यही कहते हैं। क्या तुम ने भी उन्हीं से सुना है! सुनो, साक्षात् धन्वंतरिजी, पर यह सब कहने का अवसर नहीं है, चलो! चलना ही होगा।

त्रिपुर—चलिये!

वैद्य—(चलते हुए ठहरकर) एक बात है।

त्रिपुर—क्या?

वैद्य—रोगी का स्वभाव वातज, पित्तज है या कफज! मैं तुमसे इस लिये पूछ रहा हूँ कि वैद्य को चाहिये सदा रोगी और रोग का चिन्तन करता रहे। इसीलिये पूछा।

त्रिपुर—यह तो बताना कठिन है वैद्य महाशय, आप चलिये।

वैद्य—यह ठीक है, पर यह 'वैद्य महाशय' तुमने क्या कहा! क्या वैद्यराज...।

त्रिपुर—हाँ, चलिये वैद्यराज! (हाथ पकड़कर) चलो न!

वैद्य—यह उचित ही हुआ। वैद्यराज, राजवैद्य। चलो!

(दोनों का प्रस्थान)

पट-परिवर्तन

पांचवां दृश्य

(बन के एक भाग में रानी विशालाक्षी और राजा बाहु सोरहे हैं। बर्हि कुछ दूर एक वृक्ष के नीचे खड़ी गीत गा रही है।)

बर्हि—

तरल गरल पीयूष बनाकर अरिदल पर बरसाना होगा
मैं खंजर हूँ, मुझे शत्रु को तिल-तिलकर तरसाना होगा
मैं अंधड़ हूँ मुझे लता के कुसुम तोड़ ही देने होंगे
मैं प्रलयंकर बड़वानल हूँ, सब कुछ जला बहाना होगा
मैं कृतान्त हूँ, मुझ में जग की आशाओं की आहुति होगी
कालकूट मैं रुद्राणी हूँ, मेरी बस, मेरी द्युति होगी
भभर-भभर कर अट्टहास से जल थल पावक दहल उठेंगे
मेरे रक्तकुण्ड में विप्लव अंगारों की ही स्मिति होगी
जीवन के स्वप्नों को विषधर प्रलयी सर्प डसाना होगा
खेल खेल में मुझे मृत्यु का जीवन-रास रचाना होगा

बाहु—(आँख खोलकर) सुन्दर गीत है—"तरल गरल पीयूष बना कर अरदिल पर बरसाना होगा।" जैसे मेरे प्राण कहीं दूर खड़े हो कर मुझे सुनाने आ रहे हैं। सुन्दर...।

बर्हि—"मैं खंजर हूँ, मुझे शत्रु को तिल-तिल कर तरसाना होगा।"

बाहु—ठीक है, बिल्कुल ठीक। निराशा और आशा का रोता हुआ समन्वय...(बर्हि की ओर देखकर) हाँ, मेरे दुख, मेरी प्रति-हिंसा बर्हि के स्वर से अपनी लय मिला रहे हैं। बर्हि, बर्हि, इधर आओ। मुझे तुम्हारा यह गीत कैसा मीठा लगता है। आः यदि इस हीरे में...। "मैं अंधड़ हूँ मुझे लता के कुसुम तोड़ ही देने होंगे।" (सोचकर) लता के कुसुम ? यह क्या कहा इसने ?

बर्हि—(पास जाकर) महाराज क्या आज्ञा है ?

बाहु—कुछ भी नहीं। कुछ भी तो नहीं बर्हि। (मुँह फेर लेता है) हा, पीडा।

बर्हि—कुछ भी नहीं। क्या अब भी कुछ नहीं ? (बाहु घावों के कष्ट से बेचैन हो उठते हैं उनके निकट आकर) क्या एक बार भी नहीं महाराज ! (क्रोध से) मुझे देखकर मुँह फेर लिया !

बाहु—मैं स्वप्न देख रहा हूँ। (फिर बेचैनी) आह, आह।

बर्हि—(विशालाक्षी की ओर देखकर) मैं यहाँ नहीं ठहर सकती। नहीं, मेरा यहाँ क्या काम ? मुझ में साहस नहीं है।

बाहु—"भभर भभर कर अट्टहास से जल थल पावक दहल उठेंगे" ! जाती हो। हा...प्यास...।

बर्हि—मेरा साहस जैसे टूट चुका है। मेरी दृढता आँखों के

पथ से आँसू बनकर ढल गई है। (विशालाक्षी की ओर देखकर) ठीक है, ठीक ही हो रहा है।

बाहु—ठीक हो रहा है। "दिन ढल चला सभी कुछ उजड़ा-अब क्या अपना और पराया।" हा...पानी...।

विशालाक्षी—(एक दम जागकर) यह क्या, शरीर टूट क्यों रहा है ? महाराज !

बाहु—"काँप रहे उच्छ्वास जगत के काँप रही यह जीवन छाया" केवल...एक घूँट...।

विशालाक्षी—कण्ठ सूख रहा है। गला रुँध सा रहा है। साँसें फफक उठी हैं। बर्हि, मुझे क्या हो गया ?

बाहु—"टूट रहीं जीवन ज़ंजीरें स्मृतियों के कंकाल खड़े हैं।"

बर्हि—(मुँह फेरकर) महाराज, इन स्वरों की साधना यदि एक बार तुम देख पाते, इस प्यास को एक बार भी बुझा सकते, इस हृदय को एक बार भी विलास की उत्तुंग ऊर्मियों में उड़ेलकर मेरे जीवन की तूफ़ानी धार में बह सकते, पर तुम्हें क्या, तुम्हें क्या ?

बाहु—"मेरे वर अभिशाप मूर्ति बन रोम रोम से आज जड़े हैं।" क्या पानी भी न मिल सकेगा ?

विशालाक्षी—हाय, मेरे प्राण छटपटा रहे हैं। हाय !

(त्रिपुर का एक वैद्य के साथ प्रवेश)

त्रिपुर—वैद्य, देखो तो महाराज और महारानी की क्या अवस्था है ? (बर्हि को देखकर) अरे, तुम !

बर्हि—हाँ, क्यों क्या हुआ ? तुम आगये ! (एकदम पीछे से भागती हुई) महाराज का अन्त है। रानी का भी। मेरे हृदय, यदि तुम एक बार, केवल एक बार...। (जाती है)

वैद्य—(महाराज की नाड़ी देखकर) अरे, रोग नहीं रोगी...। यही तो बुरा है।

त्रिपुर—रोग नहीं, रोगी ?

वैद्य—हाँ, रोगी, बुझता जा रहा है। लोह भस्म भी व्यर्थ...।

त्रिपुर—क्या हमारे परिश्रम का कोई फल नहीं वैद्य ?

वैद्य—(विशालाक्षी की ओर) हैं, विष...(विषस्य विषमौषधम्) ठीक हो जायगा। यह दवा लो। (दवा देता है)

त्रिपुर—विष, विष क्या ? रानी को बचाओ ! वह (इधर उधर देख कर) चली गई।

वैद्य—इन्हें विष दिया गया है ! ठीक हो सकेगा। (दवा देता है)

बाहु—(चेतन होकर) उस दिन जीवन का प्रभात था; आज, आज मृत्यु का प्रभात है। तुम कौन हो ! त्रिपुण्ड्रक, नहीं विशालाक्षी, बर्हि, उसका नाम मत लो ! बस थोड़ी देर है।

त्रिपुर—क्या कोई भी उपाय नहीं वैद्य !

विशालाक्षी—(औषध के प्रभाव से रानी आँखें खोलकर) महाराज महा... । (फिर सो जाती है)

(कुन्त का जल लेकर प्रवेश)

कुन्त—जल लेकर आ रहा हूँ। तड़पते प्राणों को शान्त करने के लिये । (बाहु के मुख में पानी डालकर त्रिपुर और वैद्य की ओर देखकर) तुम आ गये !

वैद्य—सिद्धमकरध्वज, चन्द्रप्रभा, स्वर्णभस्म, ताम्रभस्म किसी काम के नहीं । घावों का विष शरीर में फैल गया है (बाहु की ओर देखकर) रोगी, कुछ पहले कुछ पहले...अब क्या, अब क्या हो सकता है...। एक ही उपाय है !

त्रिपुर—क्या, क्या वैद्यराज ?

कुन्त—क्या उपाय है ?

विशालाक्षी—कैसा लगता है आः ।(आँखें बन्द कर लेती है)

वैद्य—महाराज की मृत्यु । क्या मृत्यु का कोई उपाय नहीं है? सब से बड़ा वैद्य, सब रोगों का अन्त, सब विषमताओं का प्रतीकार, जीवन की साधनाओं का...(रानी के लिये दवा निकालकर) पहले यह, फिर यह और नींद के लिये यह । मैं जाता हूँ ।

कुन्त—(दवा लेकर) ठहरो न !

वैद्य—ठहरूँ, अब रोग कहाँ है जो ठहरूँ। अब तो रोगी रोग दोनों का...।

त्रिपुर—चुप रहो।

कुन्त—कैसा भयंकर समय है, एक ही बार सब कुछ...।

बाहु—ईश्वर.... विशालाक्षी.... रा....नी ...ब....हि.... गुर...व...(प्राण त्याग देते हैं)

वैद्य—रानी को उठा लो नहीं तो वह भी...। (चला जाता है)

दोनों—(दोनों रोकर) हा भगवान्, (त्रिपुर राजा को उठा कर ले जाता है)

विशालाक्षी—(आँखें खोलकर) महाराज, महाराज कहाँ हैं कुन्त ?

कुन्त—माता, शान्त रहिये महाराज यहीं हैं !

विशालाक्षी—मैं शान्त हूँ कुन्त, मैं महाराज को देखना चाहती हूँ। अभी मैंने एक स्वप्न......। कैसा था वह भयंकर स्वप्न। मैं महाराज को देखना चाहती हूँ। कैसा था ? (विष का प्रभाव धीरे धीरे कम होता है और रानी चेतना प्राप्त करती जाती है)

कुन्त—माता, यह औषध पी लीजिये। आप स्वस्थ हो जाँयगीं। (औषध देता है)

विशालाक्षी—मैं औषध नहीं पी सकती। मैं अब औषध नहीं पी सकती।

कुन्त—आपके शरीर में अभी विष का प्रभाव है। हलका विष था यह दवा पी लीजिये।

विशालाक्षी—(आश्चर्य से) विष कहाँ से आगया मेरे शरीर में ! विष, मैंने विष खाया था क्या ! समझी, सब समझ में आगया ! बहिं, तुमने पाप की आँखों से हँस कर मेरा नाश करना चाहा था...। (आश्चर्य और दुख से आँखें बन्द कर लेती है)

(कुन्त वैद्य की दी हुई दवा देता है रानी धीरे धीरे सो जाती है और वह स्वयं वहाँ से चला जाता है।)

पटाक्षेप

दूसरा अंक

पहला दृश्य

(मैदान में राजा का शव रखा है। त्रिपुर और कुन्त खड़े हैं)

कुन्त—जल्दी करो भाई ! आग लगाने का प्रबन्ध करो।

त्रिपुर—(दुःख से) प्रबन्ध करूँ, इस संसार में जगह जगह आग ही तो लग रही है। इस के सामने धाँय धाँय करती चिताएँ, कड़कती बिजलियाँ, उबलते और फटते भूखण्ड, टूटते नक्षत्र और पिघल कर बरसते ब्रह्माण्ड के सूर्य पिण्ड सब फीके हैं कुन्त ! जिसके संकेत से, जिसके क्रोध से विश्व जल उठता था, किन्तु जिसने उसे कभी न जलाया, उसकी चिता को आग लगाऊँ यह मुझ से न हो सकेगा ! (बैठ जाता है)

कुन्त—देर न करो त्रिपुर, रानी अब तक जाग उठी होगी। सब कुछ बिगड़ जायगा।

त्रिपुर—तुम ठीक कहते हो ! (उठ कर) हे महाराज, सूर्य वंश के प्रदीप, आज तुम्हारी यह दशा ! मैं नीच, तुच्छ सेवक...!

(कुछ सैनिकों का प्रवेश)

एक—यही तो त्रिपुर है !

दूसरा—कुन्त भी ! पकड़लो !

तीसरा—यह क्या कर रहे हैं ? (सब निकट जाकर उन दोनों को पकड़ लेते हैं त्रिपुर और कुन्त युद्ध करते हैं परन्तु पकड़ लिये जाते हैं। सैनिक उन्हें पकड़ कर लेजाते हैं)

(रानी का प्रवेश)

विशालाक्षी—अब मैं ठीक हो गई हूँ। पर महाराज कहाँ हैं ? महाराज ! महाराज !! (सामन देखकर) हैं यह क्या ! यह कौन है ? (पास जाकर) महाराज, यह क्या ! आपकी यह दशा हा...(पछाड़ खा कर गिर पड़ती है फिर होश में आकर) हे प्रभो, मैं यह क्या देख रही हूँ ! मेरे महाराज, आपकी यह दशा ? जिन्हें संसार की आँखें देखकर भी तृप्त न होती थीं। वे आज मानवता की सीमा के बाहर अनादृत, अपृष्ट और मूक हो कर पड़े हैं। मेरे हृदय, तू फट क्यों नहीं जाता। तेरी आशाएँ, तेरे जागृति के स्वप्न, तेरे सौन्दर्य, तेरे विश्वास, तेरे सुख आज सब हिल गये हैं। आज मालूम हुआ यह संसार दुख की पाठशाला है। हाय, मेरे प्रकाश की पुतली फूट गई। मेरा विश्वास अन्धा हो गया है। मेरी निराशा की रात चारों ओर से गहरी होती चली जा रही है। अब मैं किस के सहारे चलूँगी ? मेरा प्रकाश बुझ गया, मेरे जीवन का निश्वास घुट रहा है। हाय, मैं क्या करूँ ? (बेहोश हो जाती है फिर उठकर) मैं अकेली हूँ। निराशा की तरह असहाय, स्वप्नों की तरह निर्बल, बेचैनी की तरह अधीर।

मैं अकेली हूँ। मेरे प्राण, मेरे हृदय तुम विस्फोट की तरह फटो और मेरे आँसुओं का एक प्रलयान्तक सागर बना दो। मुझे बहा ले चलो। मैं अकेली हुँ। (रोते रोते बेहोश हो जाती है)

(ऋषि और्व का एक शिष्य के साथ प्रवेश)

ऋषि—यह कौन रो रहा था ?

शिष्य—महाराज, इधर, यहीं से तो कुछ सुनाई दे रहा था ! किसी स्त्री का रोना है !

(और आगे बढ़कर)

और्व—यही तो है ! अरे, यह तो रोते रोते मूर्च्छित हो गई हैं। (पास जाकर) उठो बेटी, तुम्हें क्या कष्ट है, उठो ! (विशालाक्षी) आँखें खोल कर)

विशालाक्षी—मैं उठूँ, अब मुझ में उठने का बल ही कहाँ रहा है ? महाराज, मेरा तो सर्वस्व छिन गया। मेरे हृदय का मोती पानी हो कर बिखर गया ! हाय रे...।

और्व—क्या बात है बेटी, यह कौन है ! (शिष्य पास जाकर बाहु को देखता है)

शिष्य—महाराज, ये तो अयोध्या-नरेश महाराज बाहु हैं।

और्व—महाराज बाहु, यहाँ कैसे ?

शिष्य—न जाने ! यह महाराज का मृत शरीर है।

और्व—महाराज बाहु, (सोच कर) समझ गया, सब समझ

गया ! ये बाहु हैं और ये उनकी धर्म-पत्नी रानी विशालाक्षी हैं। दुर्दम राजा ने इन्हें हरा दिया, इसी से ये बन में निकल आये थे। (रानी से) बेटी, दुखी मत हो, संसार का यही विधान है। उठो !

विशालाक्षी—नहीं महाराज, मैं इन्हीं के साथ सती होऊँगी। अब मेरे लिये संसार में कुछ भी रह नहीं गया है। मैं सती होऊँगी। (उठ कर चिता प्रज्वलित करने की तैयारी करती है तथा शोक रहित होकर) मुझे अपने चरणों में स्थान दो ! (फिर तैयारी करने लगती है)

और्व—ठहरो !

विशालाक्षी—मुझे आज्ञा दीजिये ऋषिवर ! मैं अपने पति की अनुगामिनी बनूँ। स्त्रियों का सब से बड़ा धर्म यही है महाराज !

और्व—(ध्यान सा लगा कर) बेटी, मैं देख रहा हूँ, मैं तपोबल से देख रहा हूँ, तुम सती नहीं हो सकतीं।

विशालाक्षी—ऋषिवर, यह आप क्या कह रहे हैं ! मेरे अदृष्ट बन आप मुझे, मेरे सौन्दर्य को, मेरे विलास को, मेरे आनन्द को, मेरे संचित बल को लुप्त न कीजिये ऋषिवर, मैं पागल हो रही हूँ ! स्त्रियों के आत्मबल का यही ज्वलन्त रूप है।

और्व—बेटी, तू गर्भवती है ! तेरा पुत्र विश्वबिजयी और शत्रु का नाश करनेवाला होगा। ऐसी अवस्था में सती होना पाप है।

विशालाक्षी—(लज्जित और संकुचित होकर धीरे से दुहराती है) "तू गर्भवती है। तेरा पुत्र विश्वविजयी होगा !" न, मैं कुछ नहीं

चाहती। मैं मरना चाहती हूँ। महाराज, मुझे मरने की आज्ञा दीजिये (फिर कुछ सोचकर) नहीं पतिदेव, मैं जीवित रहूँगी, तुम्हारे शत्रु का नाश करने के लिये, सूर्य वंश का दीपक जलाने के लिये। कैसी विकट समस्या है। मैं मर भी नहीं सकती, मैं जी भी नहीं सकती।

और्व—बेटी, इस समय तुम्हें सती नहीं होना चाहिये! वंश-रक्षा स्त्री का सब से बड़ा धर्म है। उस धर्म का पालन करो बेटी! (शिष्य से) मै स्नान के लिये जारहा हूँ, तुम चिता में आग लगवाकर रानी को आश्रम में ले जाओ! (जाते है)

विशालाक्षी—(रोती हुई) विधाता, तुझ से मेरा जलना भी न देखा गया? मै गर्भवती हूँ। परन्तु मैं आँसुओं के अथाह सागर में बहती हुई बिना पतवार की, बिना मल्लाह की, बिना दिशाज्ञान की, बिना किनारे की नाव भी तो हूँ। मैं धूप से जलकर भभकती हुई रेतीले मैदान की यात्रिणी हूँ, जिसका कोई ओरछोर दिखाई नहीं देता; जहाँ विनाश की हवा के बगूले उठ उठ कर आकाश को धूल में छिपा लेते हैं, जहाँ रोती हुई आँखों से उलझकर पानी स्वप्न के समान उड़ गया है, जहाँ रेत के कण सूर्य की किरणों की प्रतिद्वन्द्विता में प्राणों को पीसने के लिये रोम रोम से मृत्यु को पुकार रहे हैं; जहाँ संध्या में आग बरसती है, जहाँ रात्रि महाकाल का कृष्णचक्षु हैं; जहाँ उषा है मृत्यु का आवाहन मंत्र। अब मैं क्या करूँ...।

शिष्य—माता, जल्दी कीजिये!

विशालाक्षी—हा मेरे अस्तित्व का यह फल। क्या यही मेरे सुख स्वप्नों का जागरण था। (आग लगाती हुई) जलो, तुम चिता बन कर जलो, मैं चिंता बन कर जलूँ नाथ !

(मूर्च्छित हो जाती है)

पट-परिवर्तन

दूसरा दृश्य

समय मध्यान्ह ।

(हैहयवंशी दुर्दम अयोध्या के महल में सो रहा है । राजमहल में सुनसान है)

दुर्दम—(करवट बदलता हुआ आँखें खोल कर फिर बन्द कर लेता है । इतने में पैरों की आहट सुनाई देती है) यह क्या देखा ? हुँ...। (फिर सोजाने का नाट्य करता है इतने में कपड़ों से लिपटी हुई एक छाया आकर कोने में खड़ी हो जाती है)

छाया—(धीरे से) नीच, कृतघ्न ।

दुर्दम—(हड़बड़ा कर) उहँ !

छाया—अत्याचारी ?

दुर्दम—शब्द कहाँ से आ रहा है ? (इधर उधर देख कर फिर आँखें बन्द कर लेता है)

छाया—पापी !

दुर्दम—पापी, किसने कहा ! कौन है ! (दोनों ओर देखकर) कहीं भी कुछ नहीं है, (फिर सोने का नाट्य करता है)

छाया—दुष्ट ।

दुर्दम—(हड़बड़ा कर) तू कौन है ? (उठ बैठता है और डरकर पीछे हट जाता है)

छाया—हाहाहाहा, खूब ।

दुर्दम—तू कौन है ! यहाँ कैसे आया ?

छाया—मै कौन हूँ। कोई भी नहीं।

दुर्दम—(ज़ोर से) कोई है !

छाया—कोई भी नहीं।

दुर्दम—(खड़ा होकर एक दम आकृति के कपड़े झटक देता है। उसके सिर से कपड़ा खिसक जाता है, बर्हि प्रकट हो जाती है) तू कौन है, बता तू कौन है ?

छाया—बर्हि।

दुर्दम—बर्हि ! बाहु की छोटी रानी !

बर्हि—वही !

दुर्दम—क्या चाहती है ! (उसके रूप को देखने लगता है)

बर्हि—कुछ भी नहीं ! तूने मुझे बुलाया था !

दुर्दम—मैं राजा हूँ।

बर्हि—जानती थी !

दुर्दम—क्या ?

बर्हि—राजा था !

दुर्दम—अब क्या जानती है ?

बर्हि—डरपोक, कायर !

दुर्दम—मैं कायर हूँ ? (क्रोध में) मुझे कायर कहती है ! जानती है इसका परिणाम क्या होगा !

बर्हि—(हँस कर) सब जानती हूँ। खूब जानती हूँ। नीच,

कृतघ्न, पापी कुत्ते कहीं के ?

दुर्दम—(क्रोध से पैर पटक कर) इतना साहस ?

बर्हि—इस से भी अधिक !

दुर्दम—मैं मूर्ख हूँ ? (उसकी ओर देख कर सहम सा उठता है)

बर्हि—कायर !

दुर्दम—(घबरा कर) क्या चाहती है ?

बर्हि—(उसी तरह हँसकर) मुझे बुलाया था। मेरे पकड़ने को सैनिक भेजे थे। मैं स्वयं आगई ! (उसकी आँखों में घुस कर देखती है)

दुर्दम—(पलंग पर बैठ जाता है इधर उधर देख कर कुछ सोचता हुआ) मैंने बुलाया था ? भयंकर...तुम उस आसन पर बैठ जाओ ! (आसन की ओर संकेत करता है)

बर्हि—(वैसे ही खड़ी हुई) राजा मरगये !

दुर्दम—(आश्चर्य से) मरगये !

बर्हि—हाँ, राजा मरगये !

दुर्दम—क्या यही समाचार देने आई हो !

बर्हि—(बड़े जोर से हँस कर) अच्छा हुआ ! हा हा हा हा... (फिर गुमसुम सी होकर) फुलझाड़ियों से उठनेवाली चिनगारियाँ अभी बहुत नीची है !

दुर्दम—(आश्चर्य में भरकर) वाह, मरगये ! काँटा निकल गया। बर्हि !

बर्हि—राजा मर गये। अब तुम्हारी बारी है ? (जाती है)

दुर्दम—बर्हि ?

बर्हि—हो सकता है।

दुर्दम—(बर्हि की ओर देख कर) ठहरो !

बर्हि—(आँखों में आँखें डाल कर) हूँ, क्यों ठहरूँ !

दुर्दम—(सोच कर) विशालाक्षी...। क्या तुम विशालाक्षी को पकड़वा दे सकती हो ? वह...।

बर्हि—वह गर्भवती है इसी लिये न ! अयोध्या के सिंहासन को निष्कंटक करने के लिये...नहीं...कभी नहीं...हाँ पकड़वा दूँगी।

दुर्दम—यह काम हम दोनों का है।

बर्हि—दुर्दम, एक बार मेरी ओर देख, मैं विशालाक्षी का नाश चाहती हूँ। मैं उसे प्रलय से पीस कर मार डालना चाहती हूँ। मैं निराशा की तरह उससे घृणा करती हूँ। वह मेरे सौभाग्य पथ का विषम टीला, नभचुम्बी भूधर है। मैं उसे स्वयं मारूँगी। एक बार वह बच गई है। तुम...नीच...पापी...नहीं कभी नहीं। जाती हूँ। एक बार मेरी ओर देखो ! (राजा बर्हि की ओर देख कर मुँह नीचा कर लेता है। वह चली जाती है)

दुर्दम—बड़ी विकट स्त्री है। मैं तो जैसे हत बुद्धि हो गया। मैं इसे बन्दी बनाना चाहता था, परन्तु मेरा तो सब साहस जैसे कहीं समाप्त हो गया। सौन्दर्य में जलती हुई आग आज पहली बार देखी।

नहीं, यह नहीं हो सकता । इसको भी बन्दी बनाना होगा । बन्दी बनाना होगा । (बर्हि फिर प्रकट हो जाती है)

बर्हि— क्या कहते हो, बन्दी बनाना होगा । मुझे बन्दी बनाओगे राजा ! (क्रोध से) मूर्ख, मुझे कौन बन्दी बना सकता है । बिजली को कौन पकड़ सकता है, तूफान को कौन रोक सकता है, प्रलय को कौन हटा सकता है । जो मुझे बन्दी बना सकता था...(चुप होकर) तुम मुझे बन्दी बनाओगे दुर्दम ? (चली जाती है)

(दुर्दम गुमसुम सा होकर लेट जाता है । दुर्दम की रानी का प्रवेश)

रानी—महाराज !

दुर्दम—बड़ी भयंकर है ।

रानी—महाराज !

दुर्दम—विद्युत सी प्रवाहशील, मन की तरह वेगवान !

रानी—(राजा के शरीर पर हाथ फेरती हुई) महाराज ! कैसा जी है ?

दुर्दम—(आंखें खोल कर) गई ?

रानी—कौन !

दुर्दम—कोई भी नहीं । तुम हो ! मैं सो रहा हूँ ।

रानी—महाराज, आप क्या कह रहे हैं समझ में नहीं आता !

दुर्दम—समझ तो मुझे भी कुछ नहीं पड़ती रानी !

रानी—कोई स्वप्न देखा था क्या !

दुर्दम—हाँ, एक जाग्रत स्वप्न था, जिसमें विष भरा सौन्दर्य था। जिसके यौवन में अपमान, भर्त्सना प्रतिहिंसा झलकती थी। वह एक पहेली थी।

रानी—आपका जी अच्छा नहीं है, सोजाइये।

दुर्दम—वह न स्वप्न था न जागृति थी! वह नींद भी न थी, एक तन्द्रा भी नहीं! एक हवा के झोके की तरह आई और निश्वास की तरह आकाश में लीन होगई! ऐसा क्या कभी हुआ? दुर्दम की सशक्त भुजाओं में कई बिजलियों की कड़क, कई मेघों के गर्जन, कई सागरों के विस्तार, कई आकाशों के पर्दे छिन्न भिन्न होकर, पिस कर, कुचले जाकर निलीन हो गये हैं, यह नहीं हो सकता। अब वे बच नहीं सकतीं। उनको पकड़ना होगा। परन्तु वह...मैंने उससे क्या कहा, याद नहीं आता! उसे मैंने पकड़ा क्यों नहीं? सोता हूँ! अच्छा सोता हूँ। (आँखें बन्द कर लेना है, रानी धीरे धीरे पंखा करती है)

पटाक्षेप

तीसरा दृश्य

समय सायंकाल—

(और्व ऋषि के आश्रम के बाहर एक कुटिया में एक खाट पर प्रसूता विशालाक्षी और उसका बालक दोनों सो रहे हैं। रानी जाग रही है। और्व ऋषि की पत्नी भी पास बैठी है।)

ऋषिपत्नी—(बालक की ओर देख कर) कैसा सुन्दर बालक है ! ऋषि कहते हैं महाराज की प्रतिच्छाया मानों छोटी बनकर आगई है। नाम कैसा सुन्दर है 'सगर'।

विशालाक्षी—(लेटी हुई तिरछी नजर से बालक को देख कर) हा मेरे भाग्य !

ऋषिपत्नी—क्या चाहिये महारानी ?

विशालाक्षी—कुछ नहीं देवी ! हा मेरे देवता ! (करवट बदल कर सो जाती है, बच्चा पीठ की तरफ़ सोता रहता है)

ऋषिपत्नी—सो गई महारानी !

विशालाक्षी—हूँ (ऋषिपत्नी स्वामी की पूजा का समय जान कर एक तरफ़ से चुपचाप बाहर चली जाती है। दूसरी ओर से धीरे धीरे बर्हि आती है)

बर्हि—सो रही है !

विशालाक्षी—(खुर्राटे लेने लगती है, बर्हि धीरे धीरे बालक के पास आती है। बालक आँखें खोल कर देख रहा है, वह उसे गोद में उठा लेती है)

बर्हि—(धीरे से) कैसा सुन्दर है । महाराज की छोटी मूर्ति ही तो ?

(विशालाक्षी खुर्राटे लेती रहती है, बर्हि चुपचाप बालक को उठाकर बाहर चली जाती है, और्व ऋषि का प्रवेश)

ऋषि—क्या अवस्था है महारानी ?

विशालाक्षी—(एक दम चौंक कर) हैं ! महाराज की कृपा है ।

ऋषि—देवि, हृदय के एक एक तन्तु से, संस्कार के एक एक राग से जड़-पिण्ड में प्रकाश की किरणें फैलती हैं । मानवता का विकास भावना के संचित संस्करणों का फल है जो संसार में अपना नया पथ, नई योजनाएँ बनाता है तुम से अभिन्न होते हुए, तुम्हारी प्रतिच्छाया होते हुए भी वह भिन्न है किसी और की छाया है । आज तुम्हें यही सीखना है देवि, सजग होकर उसके मार्गों के क्लेश को सहने की शक्ति प्राप्त करो परमात्मा भला करेंगे । (इतना कहकर ऋषि चले जाते हैं)

विशालाक्षी—(उसी तरह कुछ देर तक करवट लिए हुए) ऋषिवर ने यह क्या कहा ! क्या कहा ! (बच्चे की तरफ़ हाथ का संकेत करती हुई) तेरे लिये ही तो मैं जी सकी हूँ । नहीं तो महाराज के साथ जाने से प्रिय मुझे संसार में कोई वस्तु न थी । मैं आशा की धुँधली चमक में तेरी चाह लेकर विश्व के सौन्दर्य-मन्दिर की सीढ़ी पर चढ़ी थी । मातृत्व की प्रिय भावना ने मुझे उस दिन कैसी उन्मादिनी बना दिया था ? 'तेरा पुत्र विश्वविजयी और शत्रु का

नाश करनेवाला होगा।' ऋषिवर की इस भविष्य वाणी ने शोक के अथाह सागर में मुझ डूबती हुई को पार पहुँचानेवाली एक नाव में बैठा दिया था। देखने में सुदृढ़, किन्तु कच्चे डोरे के सहारे आज मेरी नाव विश्व के प्रिय तट पर आ लगी है। अरे, तू बहुत सोया। मेरा हृदय, मेरी संपूर्ण आशाएँ, मेरी मधुर और स्निग्ध कल्पनाएँ स्तनों के द्वारा उछल कर तुझे वात्सल्य रस के समुद्र में डुबो देना चाहती है और तू अभी सो ही रहा है। उठ मेरे लाल, उठ। (करवट बदल कर लापरवाही से बालक की चादर हटाती है और बच्चे को न पाकर एक दम सुन्न रह जाती है) हैं, यह क्या! मेरे सर्वस्व को ...! (कमजोरी और अचानक दुख के कारण बेहोश हो जाती है, कुछ देर बाद होश आने पर) कौन ले गया? (सिर पकड़ बैठ जाती है) मेरा प्रिय निश्वास कौन चुरा ले गया? हाय! (पागल होकर कुटिया के बाहर झुटपुटे में ठोकर खाकर एक पत्थर पर गिर कर बेहोश हो जाती है। होश में आकर फिर गुमसुम सी खड़ी होकर देखने लगती है, उसकी आँखें प्रचण्ड अग्नि सी चमक रही हैं, सब कुछ देखती हुई भी कुछ नहीं देख पाती, शरीर वज्र सा कठोर हो गया है, चेतना लुप्त हो गई है) हा...हा...तू उजियाले में छिप गया! सगर। हा..हा..हा..हा इन पत्थरों से रोज़ ठोकर खा कर छिप जानेवाला सूर्य किरणें उड़ेल कर उधर क्षितिज में खड़ा हँस रहा है। हँस, खूब हँस, मैं भी हँसूँ, तू भी हँस, हा हा हा हा। (दोनों हाथ फैला कर सिर पीट लेती है और धम से पछाड़ खाकर गिर पड़ती है)

पटाक्षेप

चौथा दृश्य

समय—झुटपुटा ।

(स्थान—अयोध्या का बन्दीगृह, त्रिपुर और कुन्त एक सुनसान अँधेरी कोठरी में भूमि पर बैठे हैं। दूर एक सैनिक पहरा दे रहा है । बहुत देर तक दोनों के चुपचाप रहने के बाद)

कुन्त—अँधेरे कमरे की चार दीवारी में अब जीवन का अन्त होगा। कल सूर्य की उजली किरणें दूर से ही हमारे भाग्य की दीवारों से टकराकर, मुसकराकर लौट जाँयगी। प्रातःकाल होते ही पक्षियों का कलरव उद्गार की तरह उठकर किसी दिशा में लीन हो जायगा। अब क्या होगा त्रिपुर! कल ही तो फाँसी का दिन है!

त्रिपुर—केवल यही! इससे आगे कुछ भी नहीं क्या! मैं इस अँधेरे को अधिक पसन्द करता हूँ। इसमें मनुष्य की वासना भड़कती नहीं देख पड़ती। इसमें पुण्य के भीतर छिपा हुआ पाप दिखाई नहीं देता। इसमें उजली आँखों के कोयों में छिपी हुई वासना और बीभत्स तृष्णा की तरंगे नहीं उछलतीं। मुझे तो ठीक देख पड़ता है कुन्त!

(दोनों कुछ देर तक चुप बैठे रहते हैं)

कुन्त—तुम क्या सलाह देते हो! क्या मरना ही होगा।

त्रिपुर—मैं तो कुछ भी सोचता नहीं हूँ।

कुन्त—क्या इसी तरह रहेगा!

त्रिपुर-- शायद यह हमारे वश की बात नहीं है। यत्न करके थकने के बाद निराशा की बारी आती है।

कुन्त---क्या कोई भी प्रयत्न नहीं हो सकता!

त्रिपुर---भागना!

कुन्त---हाँ

त्रिपुर---यही अन्तिम तो।

कुन्त---इसके बाद हमारे जीवन की नई दिशा प्रारम्भ न होगी? हमें अपने लिये नहीं, दूसरों के लिये भी तो कुछ करना है।

त्रिपुर---बर्हि और दुर्दम से महारानी की रक्षा। तुम ठीक कहते हो।

कुन्त---क्या उपाय है!

त्रिपुर---हम दोनों! इस द्वार के सामने सोकर खुर्राटे लेने लगें। (दोनों द्वार पर लगे लोहे के जंगले के सहारे खुर्राटे लेने लगते हैं)

सैनिक---(दोनों के सोने की आवाज़ सुन कर) अपने राम से तो ये कैदी ही अच्छे; नींद आने पर सोते तो हैं। (दरवाज़े के पास खड़े होकर) अहह (झल्लाकर) अरे खुर्राटे क्यों लेते हो? कुन्त, त्रिपुर?

त्रिपुर---(हड़बड़ा कर उठते हुए) जी सैनिक जी!

कुन्त---जी सैनिक जी, क्या बात है?

सैनिक---तुम तो कैदी हो न?

कुन्त---जी!

त्रिपुर—जी।

सैनिक—तुम तो भाई, खूब सोते हो।

कुन्त—जब से पकड़े आये हैं आँख नहीं लगी। भला इस काल कोठरी में कहाँ नींद आती है। कल फाँसी का दिन है।

सैनिक—न मालूम कब क्या हो जाय, सैनिक का जीवन मृत्यु की 'भूमिका' है।

त्रिपुर—हाँ भाई, ठीक कहते हो।

सैनिक—मेरा भाई इस पिछली लड़ाई में मारा गया। माता पिता पहले ही चल बसे। अब अकेली जान है। संसार से जी ऊब उठा है।

त्रिपुर—ठीक कहते हो। (बेचैनी का नाट्य करता हुआ) आः; उह, मराजाता हूँ।

कुन्त—क्या हुआ त्रिपुर?

त्रिपुर—कुछ भी नहीं, आः! (छटपटाने लगता है)

सैनिक—क्या हुआ?

त्रिपुर—कुछ भी नहीं। अब थोड़ी देर का......।

कुन्त—कुछ कहोगे भी आखिर बात क्या है?

त्रिपुर—पेट में बड़े ज़ोर का दर्द उठा है। हाय!

(छटपटाने लगता है)

सैनिक—क्या हो सकता है, इस समय तो कोई औषध नहीं मिल सकती ?

त्रिपुर—हाय मरा ! (पट पर हाथ रखकर दर्द का सा नाट्य करता है)

कुन्त—क्या कोई भी उपाय नहीं हो सकता सैनिक ?

त्रिपुर—इन सामने के···वृक्षों के···पास···ए ए क······ हाय मरा !

कुन्त—क्या कोई दवाई जानते हो ?

सैनिक—हाँ दवाई तो ला सकता हूँ । पर इस झुटपुटे में दिखाई कैसे देगी ?

त्रिपुर—हाय···मरा···देखो, उस वृक्ष के नीचे एक···मरा रे··· पौधे···का रस पीने···ठीक हो···हाय···मरा ।

कुन्त—भाई, क्या तुम मेरे इस साथी को जीवन नहीं दे सकते ?

सैनिक—ज़रूर, पर मुझे मालूम तो कुछ भी नहीं ।

कुन्त—इसे बाहर निकाल कर ले आने दो । बिचारा मर रहा है । मरना है ही—यदि दो घड़ी और जी जाय तो कैसा ?

सैनिक—(कुछ झिझकता हुआ) बाहर निकाल दूँ ? बाहर, (कुछ सोचकर) यह कैसे हो सकता है ?

त्रिपुर—हाय...मरा। (दर्द के मारे लोटा लोटा फिरता है) मरा...मरा रे।

सैनिक—कितनी बुरी हालत है बिचारे की !

कुन्त—दया होगी भाई। तुम्हारी दया हो तो आध घड़ी में ठीक हो जायगा !

सैनिक—बड़ी जोखिम का काम है। जोखिम का···।

त्रिपुर—हाय मरा...उफ़। बेचैनी।

कुन्त—अरे भाई, प्राण दान सब से बड़ा दान है। तुम्हारे पैरों पड़ूँ। बचा लो। (हाथ जोड़ता है)

सैनिक—(बहुत देर तक सोचने के बाद)। प्राण दान सब से बड़ा दान है, अच्छा भाई···अच्छा आओ। (दरवाजे का ताला खोल देता है, कुन्त त्रिपुर को गोद में उठाकर बाहर निकलता है)

कुन्त—सैनिक का जीवन मृत्यु की भूमिका है।

सैनिक—हाँ भाई, अब तो संसार से जी ऊब रहा है। (इतने में त्रिपुर और कुन्त सैनिक के ऊपर टूट पड़ते हैं, कुन्त उसका मुँह बन्द करके उसके अस्त्र शस्त्र लेकर हाथ पैर कसकर बाँध देता है और दोनों भाग जाते हैं)

पटाक्षेप

———

पाँचवाँ दृश्य

समय—रात का पहला पहर—

(चाँदनी रात है, बर्हि नदी के किनारे शिलातल पर बैठी है, विशालाक्षी का बालक उसकी गोद में है। नदी की लहरें हवा के ज़ोर से कभी कभी किनारे से टकराती हैं और पानी में कभी छपछप की ध्वनि सुनाई देती है। चारों ओर सुनसान है)

बर्हि—(अपनी सफलता पर फूलकर) आज मेरी इच्छा और हृदय के निश्वासों ने मनुष्य का रूप धारण कर लिया है। प्रेरणा के ज्योतिर्मय प्राण सिहर उठे हैं ! प्रतिहिंसा और कर्तव्य ने उस प्राण कंकाल में साहस भर दिया है। विशालाक्षी, नीच विशालाक्षी का गौरव कुचल कर आज मैं अपने हृदय के आलोकित शिखर पर चढ़ सकूँगी ? (बच्चे को देखकर) कैसा सुन्दर है, कोमल कण्ठ, गुद-गुदा गात; स्फटिक सरोवर में खिले हुए नीलकमल सी आँखें। कैसा मनोहर है ! पर इससे क्या, यह मेरा शत्रु है, शत्रु का पुत्र है। शत्रु का उच्छ्वास है, उसके उद्गार का रव है, उसकी प्रतिच्छाया है। (ज़ोर से) आज मेरी सम्पूर्ण आशाएँ, सम्पूर्ण प्रयत्न, निखिल साध-नाएँ पुंजीभूत होकर इस सुन्दर शत्रु का नाश कर देंगी। (नदी का किनारा कट कर गिरने लगता है बर्हि उसे ध्यान से देखती है) इसी प्रकार, ठीक इसी प्रकार। सगर, इसका नाम रखा गया है 'सगर'।

गर—विष के साथ मिला हुआ। हा हा! मेरी एक ही क्रिया इसके जीवन का उपलक्षण बन गई?

अब विशालाक्षी का भाग्य खिलौना मेरे काल रूपी हाथों में पड़कर बच नहीं सकता। (कुछ सोच कर) किन्तु इसमें इस नन्हे, भोले, सुकुमार शिशु का क्या अपराध है? देखो न, कैसे सुन्दर होठ हैं। पतले पतले कोमल, मानों विधाता ने बिना हाथ लगाये ही इन्हें बनाया हो। आँखें कैसी बड़ी बड़ी, कैसी चमकती हुई मानों चाँदी के प्याले में दो हीरे और बीच में नीलम कूटकर भर दिया गया हो। न, इसका कोई अपराध नहीं, मैं इसे न मारूँगी। (कुछ देर बाद) मैं पागल हो गई हूँ। पागल, साँप का बच्चा कितना ही कोमल हो, साँप ही तो है। बड़ा होकर यह मेरा ही घातक होगा। मुझ से घृणा करेगा। इसका सौन्दर्य विष के समान है जिसका चढ़ाव मृत्यु है! नीच, पापी तुझे इन लहरों में समा जाना होगा। (बच्चे को उठाकर जमीन पर पटक देती है वह चौंक कर रोने लगता है) विशालाक्षी की आशा की तरह इन लहरों में बह जाना होगा, बह जाना होगा। महाराज बाहु (आकाश की ओर देखकर बालक चुप हो जाता है) देखो,

अपनी प्रियतमा का हृदय, आः, तुमने फूटी आँख भी न देखा। केवल इस लिये कि मैं उच्छृंखल थी, केवल इस लिये कि मेरा स्वभाव कुछ क्रूर था—पर इससे क्या, मैंने तुम्हारे चरणों में अपना हृदय रख दिया था—तुमने उसे ठुकरा दिया। मैंने विशालाक्षी को तुम्हारे मन

से उतारने का षड्यंत्र रचा केवल तुम्हारा प्रेम जीतने के लिये। किन्तु तुमने एक अबला को अवज्ञा, अपमान, लांछना की आँखों से देखा। क्या आज उसी प्रतिहिंसा का परिणाम न देखोगे! देखो, अपने भाग्य पर एक बार आकर रोओ महाराज! (इतने में पीछे से भागते हुए कुन्त और त्रिपुर बर्हि के पीछे आकर खड़े हो जाते हैं और बर्हि की बातें सुनने लगते हैं)

कुन्त—(धीरे से) यह कौन है?

त्रिपुर—सुनो। (बालक कुनकुनाने लगता है)

बर्हि—चुप, चुप, (दबाच कर) मेरा हृदय बहुत पुरानी आग से, बहुत तेज़ी से, धीरे धीरे, और वेग से जल रहा है। मेरे रोम रोम से हृदय की कोमलता फूट फूट कर बह चुकी है। (बच्चे को उठाकर) आज, विशालाक्षी की आशाओं के साथ मेरी जलन भी सरयू में बह जाये।

कुन्त—बर्हि मालूम होती है!

त्रिपुर—निश्चय कोई बालक है।

कुन्त—हैं, बालक, क्या होगा!

बर्हि—तू सो रहा है। अच्छा, तू सदा के लिये इन लहरों की छाती पर, नदी के हृदय में सो। तेरी मृत्यु से विशालाक्षी और मेरी संचित प्रतिहिंसा की मृत्यु हो। मैं यही चाहती हूँ। ले! (उठाकर फेंकने लगती है कि इतने में त्रिपुर उस बालक को छीन अँधेरे

में भाग जाता है। कुन्त उसके पास ही एक कोने में छिप जाता है। बाँई एक दम विकराल रूप धारण करके खड़ी हो जाती है) यह क्या ? अचानक ही यह कैसे हुआ ! कौन था ? कहाँ गया दुर्दम...क्या दुष्ट दुर्दम था ! विश्वासघात...मै पागल थी, पागल। (ढूंढ़ती हुई एक दिशा की ओर वेग से चली जाती है।)

कुन्त—(बाहर निकल कर) गई, स्पर्द्धा, प्रतिहिंसा का इतना उग्ररूप...कभी न देखा था ! गई, साँपिन सी फुफकारती, चोट खाई सिंहनी सी...। ओह...पल की देर से क्या हो जाता ! न्याय अत्याचार के नीचे पिस जाता, विवेक पागल हो जाता...चलूँ। अच्छा ही हुआ... चलूँ। (चला जाता है)

पटाक्षेप

तीसरा अंक

पहला दृश्य

रात का तीसरा पहर

(पागल सी विशालाक्षी सरयू के किनारे एक वृक्ष के नीचे खड़ी है। आकाश में तारे छिटक रहे हैं, नदी कलकल करती हुई बह रही है; कभी कभी पानी के वेग से किनारे कटकट कर गिर जाते हैं जिससे एक भयंकर ध्वनि उठती है। विशालाक्षी चुपचाप खड़ी सब देखती है उसके अंग प्रत्यंग शिथिल हैं, एकाएक गाने लगती है)—

विशालाक्षी—

मैं उखड़ती हुई साँसों सी उजड़कर जा रही हूँ।
याद करने के लिये कुछ आस छोड़े जा रही हूँ।
उठ रहीं चिनगारियाँ इन आँसुओं के बादलों में।
बीनकर टुकड़े व्यथा के प्राण तोड़े जा रही हूँ।
इधर सावन जग डुबोने बिन्दु दल ले आ रहे हैं।
उधर मैं खुद डूबने निज आँसुओं में जा रही हूँ।
कौन मेरे श्वास की तह पर थिरक कर नाचता है।
मैं कुचल निज को सतत निश्वास होने जा रही हूँ।
एक पल को भी न जिसने विश्व का उल्लास देखा।
विश्व से उठकर उसी का विश्व होने जा रही हूँ।

(गाती हुई चुप हो जाती है कुछ देर ठहर कर) अब क्या बाक़ी

बचा है! कौन सी आशा है, कौन सा सुख है, चारों ओर अँधेरा था। मैंने अपनी झोपड़ी में, टूटी फूटी झोपड़ी में जिसकी ईंटें हज़ारों छेद बनाकर झाँक रही थीं, जिसकी छान में अनन्त आकाश थे, जिसके हृदय में कई प्रकार की आस परस्पर होड़कर रही थीं, ऐसी थी वह झोपड़ी। इधर उधर फैलती हुई इच्छाओं को बटोर एक धीमा दीपक जलाया था, जिसमें प्राणों का स्नेह था, कल्पनाओं का कम्पन; श्वास सी लम्बी, निराशा सी क्षीण एक बत्ती थी। मेरे त्याग झुरमुट बनकर उसमें चमकने लगे थे। किन्तु...किन्तु क्या, मेरे आँचल पर उसकी छाया भी न पड़ने पाई थी···हा। हे नाथ,··· बस, यही कुछ, यही कुछ दिखाने आये थे! (करारे गिरने की आवाज़ सुनकर) इसी प्रकार, ठीक ऐसे ही तो, एकबारगी। मेरे पैरों के नीचे अदृश्य का एक पहिया है जो बिना जाने बड़ी तेज़ी से घूम रहा है। ये तरु कितने निश्चल हैं पर इनमें धीरे धीरे थकान भर रही है। होगा। कहाँ ढूँढूँ ? (चुप होकर) कैसा सुन्दर था वह ? वह छोटा सा ही तो था। छोटा सा। इससे क्या, धड़ से सिर छोटा होता है जो तमाम संसार को देखती हैं वे आँखें कितनी छोटी हैं! (ऊपर देखकर तुम टिमटिमा रहे हो! टुकुर टुकुर क्या देखा करते हो! आज हज़ारों, लाखों साल से तुम यों ही, इसी तरह, झाँक झाँक कर देख रहे हो, क्या देख रहे हो! कोई भी बात बतलाने की नहीं है क्या! कभी हँसते भी नहीं, कभी रोते भी नहीं, यों ही देख रहे हो। इसी

तरह, हज़ारों साल से, हर रोज़, सारी रात। कुछ भी नहीं जानते! क्या तुम बतला सकते हो, वह कहाँ है? वही तो अरे, भूल गये? बताओ, बताओ, तुम जानते हो। ओह···क्या कहीं भी नहीं। (नीचे देखकर) तू भी बह रही है। छाती पर बोझ सा लिये। एक ही चाल से। गरज गरज कर। सहमती हुई। आहा···कैसी है तेरी थिरकन। छपछप! मैं भूल गई। मैं पागल हूँ। चन्द्रमा की दूध सी किरणों से नहाकर मेरा हृदय हीरा,...बस रहने दो। तुम मुझे साथ ले चलो। चलो, वहीं वह भी मिलेगा। (आगे बढ़कर किनारे पर खड़ी हो जाती है) चल चल, तू भी चल मैं भी चलूँ। तेरा मार्ग भी टेढ़ा और मेरा मार्ग भी टेढ़ा है। इस पहाड़ से जीवन में अनन्त पगडण्डियाँ हैं, अनन्त मोड़ हैं पद पद पर। (फिर देखती हुई) तेरे हृदय में अनन्त शीतलता है पर मैं जल रही हूँ। मैं बहुत जली, (ज़ोर से) ज़मीन पर आते ही मैंने जलना प्रारम्भ किया था। तूने भी तो पैर पसारते ही शीतल बनना आरम्भ किया था। सुना है तू जमीन पर बहकर आकाश में पहुँचती है। मुझे भी ले चल। मैं अब जी नहीं सकती।···(जोर से) मैं जी नहीं सकती। (जोर से नदी में छलांग मार देती है इतने में उधर दो आदमी आ निकलते हैं उस आवाज को सुनकर)

पहला—यहीं तो कुछ गिरा है! (गुड़प गुड़प)

दूसरा—हैं, यहीं कहीं। (सामने देखकर) अरे, कोई आदमी है।

(कपड़े उतार कर पानी में कूद पड़ता है और उसकी देह किनारे पर ले आता है)

पहला—बड़ी बहादुरी की तुमने !

दूसरा—(हाँफता हुआ) इस···में...क्या सन्देह है ।

पहला—हाँ (आश्चर्य से पास जाकर) ठीक ही हुआ ।

दूसरा—स्त्री है ।

पहला—बहिं !

दूसरा—हाँ । यात्रा सफल हुई ।

पहला—और क्या । (दोनों बाँधते हैं)

विशालाक्षी—(चेतन होकर) उफ़ (उन आदमियों को देखकर) जीने की इच्छा न करके भी जीना ही पड़ेगा । वहाँ भी न मिला । हाय, कहीं भी न मिला । आहा (हँसकर) शरद् के चाँद का टुकड़ा । (मन मसोसकर) उफ़...जी सकूँगी, जीना पड़ेगा...मरने से भी भयंकर...मौत के मुँह में भी जीना पड़ेगा ।

पहला—क्या कहा । बाँधो ।

दूसरा—न मालूम । हाँ । (मुँह बाँधते हैं) ।

विशालाक्षी—(दोनों से) क्या कर रहे हो ! क्या कर रहे हो ?... (छटपटाती है और दोनों उसे बाँधकर ले जाते हैं)

पटाक्षेप

दूसरा दृश्य

समय—प्रातः काल

(अयोध्या नगर की वीथी में कुछ नागरिक एक ओर खड़े बात चीत कर रहे हैं)

पहला—प्रश्न हाँ, प्रश्न यह है, क्या यह इसी तरह होता रहेगा ?

दूसरा—दीखता तो ऐसे ही है ।

तीसरा—भला, तुम क्या कहते हो कैसा होना चाहिये !

पहला—यह मैं नहीं कह सकता पर क्या यह योंही होना ठीक है, यह प्रश्न है !

चौथा—यों भी हो सकता है और दूसरी तरह भी तो !

दूसरा—तीसरी तरह भी तो हो सकता है ।

तीसरा—क्या कहा जा सकता है कौन चीज़ है कैसे होनी चाहिये।

पहला—पर प्रश्न क्या है यह तुम न समझे !

तीसरा—हाँ भाई बात तो मतलब की ही होनी चाहिये ।

पहला—अब और सहा नहीं जा सकता । प्रजा की इच्छा के विरुद्ध उस पर कर लगाया गया है । हम लोग क्या इतने निःशक्त हैं कि मुँह भी नहीं खोल सकते, यह प्रश्न है !

दूसरा—अब समझ में आई, तो यों कहो कि राजा के विरुद्ध विद्रोह करने की सलाह दे रहे हो ।

तीसरा—इस में विद्रोह की कौनसी बात है। ठीक तो है इस अत्याचार की भी कोई सीमा है। प्रतिदिन नई आज्ञाएँ, हम लोग पशु तो हैं नहीं !

चौथा—यह तो शायद राजा भी नहीं कहता।

पहला—राजा क्या कहता है यह कौन जाने पर उसकी आज्ञाएँ तो कहती हैं, यही तो प्रश्न है।

दूसरा—यह बात अब कुछ कुछ समझ में आई ? पर भाई, राजा के अधिकार पर कुछ कहने का हमको अधिकार भी है ?

पहला—अधिकार...अधिकार क्या यह सब वाहियात बातें हैं। राजा के अधिकार भी तो हमीं ने बनाये हैं व्यक्ति समाज के हित के लिये राजा की सत्ता है, राजा के लिये समाज की नहीं, यह प्रश्न है।

तीसरा—उपाय !

दूसरा—उपाय यही है कि हममें से एक आदमी जाकर राजा को मार दे।

चौथा—अगर दो चले जायँ तो और भी अच्छा।

पहला—यह सोचना पागलपन है, इसके लिये हमें लोकमत तैयार करना होगा। जनता में अपने अपमान की तीव्र भावना जाग्रत करनी होगी, यह प्रश्न है।

दूसरा—सुना है महाराज बाहु मर गये ?

चौथा—(आश्चर्य से) हैं, तुमने कहाँ सुना ?

पहला—महाराज की मृत्यु हो गई ! ओः महाराज बड़े विचार-शील, न्यायप्रिय थे। हम लोगों को धिक्कार है। हम अपने महाराज के प्रति कृतज्ञ न रहे, यही तो प्रश्न है।

(दुर्दम के कुछ सैनिकों का प्रवेश)

पहला सैनिक—मतलब यह है यह कैसी जमात लगा रखी है जी तुमने?

दूसरा सैनिक—ओ असभ्यो, तुम लोग यहाँ क्यों खड़े हो जी !

पहला सैनिक—मतलब यह है क्या बातें हो रहीं थीं ?

चौथा नागरिक—(हाथ जोड़कर) श्रीमान्, बातें तो ये लोग कर रहे थे मैं तो केवल सुन रहा था !

दूसरा नागरिक—न मालूम क्या बातें हो रही थीं, समझ में तो कुछ मेरी भी न आया !

पहला नागरिक—हम असभ्य, प्रश्न यह है क्या हम असभ्य हैं, हमें कुछ भी अधिकार नहीं रहा, यह प्रश्न है।

तीसरा नागरिक—तुम्हें यह पूछने का क्या अधिकार है कि हम क्या बातें कर रहे थे !

पहला सैनिक—(तुनककर) म...मतलब यह है क्या हमें अब अधिकार के लिये तुमसे पूछना पड़ेगा ?

दूसरा सैनिक—ओ, अ...स...अब राज्य तो तुम्हारा ही है क्यों !

तीसरा सैनिक—तुम यह बताओ कि तुम हो कौन, यहाँ क्यों खड़े हो !

दूसरा नागरिक—(हाथ जोड़ कर) श्रीमान् मैं बताऊँ। (पहले तीसरे की ओर इशारा कर के) ये तो वे हैं जिन्हें आपने उस दिन देखा था, और (चौथे की तरफ़) ये वे हैं जिनकी कल आँखें दुखती थीं और (अपनी ओर) मैं वह हूँ जिसे आपने पहले कभी नहीं देखा! (सैनिक एक दूसरे की ओर ताकते हैं और प्रजाजन मुस्कराते हैं)

पहला सैनिक—मतलब यह है हम यह सब कुछ नहीं सुनना चाहते।

चौथा नागरिक—फिर आप क्या सुनना चाहते हैं यह हमें कैसे मालूम हो।

दूसरा सैनिक—(अकड़कर) देखो, ओ अ..स..आज महाराज की सवारी निकलेगी तुम लोग अपनी अपनी दुकान सजा लो।

पहला नागरिक—हम क्या सब दुकानदार हैं। यह प्रश्न है?

चौथा नागरिक—आः कभी दुकान थी, पर आज तो...हूँ हूँ। (रोने लगता है)

दूसरा नागरिक—आज यह क्या हुई!

चौथा नागरिक—ओह?

सब सैनिक—क्या बकते हो! (एक दूसरे से) चलो, अभी हमें बहुत काम है। समझे। (चलने लगते हैं)

पहला नागरिक—हमें भी बहुत काम है, यही तो प्रश्न है, जाओ।

पहला सैनिक—तुम हम से 'जाओ' कहते हो। हम सैनिक हैं।

दूसरा नागरिक—नहीं महाशय, आप बैठिये हम जाते हैं।

(सब एक दूसरे का हाथ पकड़ कर चले जाते हैं)

सब सैनिक—बिगड़े हुए आदमी हैं।

दूसरा सैनिक—विद्रोही हैं !

तीसरा सैनिक—और क्या, चलो आगे चलो। (चले जाते हैं)

पटाक्षेप

———

तीसरा दृश्य

समय—लगभग एक पहर दिन चढ़े।

(ऋषि वशिष्ठ का आश्रम, ऋषि एक आसन पर बैठे हैं, अयोध्या के कुछ नागरिक उनके पास बैठे हैं। कुछ शिष्य इधर उधर फिर रहे हैं)

एक नागरिक—(हाथ जोड़कर) सूर्य वंश की बागडोर महाराज के ही हाथ में है।

दूसरा नागरिक—हाँ महाराज, इस लुटेरे दुर्दम ने बड़ा उत्पात मचा रखा है। नित्य नया कर लगा रहा है।

तीसरा नागरिक—सुना है युवराज को रानी बर्हि ने मार डाला!

चौथा नागरिक—महारानी भी ऋषि और्व के आश्रम में नहीं है। वह पागल हो गई हैं।

वशिष्ठ—(कुछ सोचकर) हूँ।

पहला नागरिक—हा..अभी तक युवराज भी सुरक्षित नहीं है।

वशिष्ठ—ईश्वर की 'कृपा से युवराज सगर सुरक्षित ही रहेंगे।

दूसरा नागरिक—महारानी।

वशिष्ठ—(चिन्तित से होकर) हूँ। (क्रोध से) घनघोर वर्षा के आसार हैं। पाप के पहाड़ टुकड़े होकर ही रहेंगे। अभिमान के

हृदय रोकर, फूट कर, गल कर बह जाँयगे। बाहु को मार डाला! उनकी पत्नियों की यह दशा! खुलेगा, धूर्जटि का तीसरा कपाट खुलेगा! (वृक्ष निस्तब्ध से रह जाते हैं, हवा का चलना बन्द सा हो जाता है, एक भय सा छा जाता है)

तीसरा नागरिक—महाराज, प्रजा बड़ी दुखी है।

वशिष्ठ—हूँ, क्या तुम बर्हि को एक बार (कुछ सोचकर) नहीं, रहने दो।

पहला नागरिक—रानी बर्हि ने सूर्यवंश का नाश कर डाला।

दूसरा नागरिक—रानी विशालाक्षी न जाने कैसी होंगी।

वशिष्ठ—प्रजाजन, कुछ दिनों तक तुम्हें यह कष्ट भोगना ही पड़ेगा।

पहला नागरिक—युवराज कहाँ हैं?

दूसरा नागरिक—महारानी की भी रक्षा होनी चाहिये महाराज! अहा, महारानी साक्षात् करुणा की मूर्ति थी। दयामयी माता!

तीसरा नागरिक—भगवती पार्वती का प्रतिरूप। हम लोग बड़े अभागे हैं। प्रजा त्राहि त्राहि कर रही है। मंत्री आदि बन्दीगृह में हैं।

वशिष्ठ—(कुछ ठहर कर) सब ठीक होगा। सन्तोष रखो। (नागरिक प्रणाम करके जाते हैं, ऋषि एक शिष्य को बुलाकर) देखो च्यवन, उन दोनों आदमियों को जो रात युवराज को लेकर आये थे, बुला लाओ।

च्यवन—(प्रणाम करके) जो आज्ञा गुरुदेव। (जाता है, उन दोनों आदमियों और बालक को लेकर आता है, दोनों आकर ऋषि को प्रणाम करके एक तरफ़ बैठ जाते है)

वशिष्ठ—त्रिपुर, हम तुम पर बहुत प्रसन्न है, तुमने परदेशी होकर भी राज्य और सूर्यवंश की रक्षा की है।

त्रिपुर—(झुककर प्रणाम करके) ऋषिवर के चरणों की कृपा है जो हम इतना कर सके, हमें अन्याय के प्रति घृणा है, हमने दुर्दम को अन्याय पर जाते देखा इसीलिये हमने उसका साथ छोड़ दिया।

वशिष्ठ—तुम उस बालक को हमारे आश्रम में छोड़ दो, हमने उसके सुरक्षित रहने का प्रबन्ध कर दिया है।

त्रिपुर—(ऋषि के सामने एक आसन पर बालक को लिटाकर) यह आप के चरणों में समर्पित है प्रभो !

वशिष्ठ—(सगर को गोद में उठाकर आसन पर लिटा देते हैं) साक्षात् महाराज बाहु की प्रतिमा है। (सिर पर हाथ फेर कर एक शिष्य से) देवी अरुन्धती को बुलाओ !

शिष्य—जो आज्ञा ! (जाता है और देवी के साथ प्रवेश करके) माता आ रही हैं। (अरुन्धती का प्रवेश)

अरुन्धती—(प्रणाम करके) आज्ञा स्वामिन् !

वशिष्ठ—देवी, यह स्वर्गीय बाहु का पुत्र सगर है

अरुन्धती—(दौड़कर गोद में लेकर) हा पुत्र, तुझे कितना कष्ट हुआ !

वशिष्ठ—गुप्त रूप से इसके पालन का प्रबन्ध करना होगा।

अरुन्धती—बिल्कुल। (बालक को लेकर चली जाती है, त्रिपुर और कुन्त उस बालक को देखते रहते हैं)

वशिष्ठ—अब तुम दोनों क्या चाहते हो !

दोनों—चरण सेवा ! भगवद्भजन !

वशिष्ठ—महारानी की खोज करो। यदि एक बार छोटी रानी को···यहाँ···नहीं रहने दो।

त्रिपुर—गुरुदेव, बर्हि को समझाना ही चाहिये। वह शत्रु से भी अधिक भयंकर है।

वशिष्ठ—अच्छा...एक...बार, नहीं जाओ। (ऋषि ध्यान मग्न हो जाते हैं। त्रिपुर और कुन्त बाहर चले जाते हैं)

पटाक्षेप

चौथा दृश्य

(दुर्दम अयोध्या के महल में बेचैनी से घूम रहा है, मालूम होता है किसी की प्रतीक्षा में है। प्रधान मंत्री उस के साथ घूम रहे हैं।)

दुर्दम—विजय प्राप्ति उतनी कठिन नहीं है जितनी उसकी रक्षा। मैं बाहु को हराकर अयोध्या को अपने वश में न कर सका। हथेली पर रखे हुए पारे की तरह वह अस्थिर है। देखो न, कल नगर-यात्रा के समय लोगों की उपेक्षा का भाव किस तरह झलक रहा था। कहीं भी कोई उत्साह न था। मानों भीतर ही भीतर षड्यंत्र हो रहा हो। मैं यह सब न होने दूँगा। एक एक को पकड़ पकड़ कर फाँसी देनी होगी। अयोध्या फिर एक बार खँडहर होकर रहेगी। मैं यह सब न होने दूँगा।

प्रधान मंत्री—महाराज, दूसरे देश के लोगों को एक बार ही वश में ले आना कठिन है। धीरे धीरे सब ठीक हो जायगा।

दुर्दम—ठीक हो जायगा? ठीक कैसे हो जायगा मंत्री! तुम्हारे 'ठीक हो जाने' ने मुझे अभी तक रोक रखा है। नहीं तो अब तक मैं प्रजा को अपने वश में कर लेता! अच्छा, नगर के जिन विशेष आदमियों को पकड़ने के लिये मैंने आदेश दिया था वे अभी तक क्यों नहीं आये?

प्रधान मंत्री—सैनिक भेजे गये हैं, आते ही होंगे नाथ !

दुर्दम–आते ही होंगे ! दुर्दम उन्हें अभी दण्ड देना चाहता है। बुलाओ, उन्हें दुर्दम के सामने अब तक उपस्थित होना ही चाहिये।

प्रधान मंत्री—(बाहर की ओर देखकर) जो आज्ञा। (जाता है)

(दुर्दम उसी तरह उद्वेग में घूमने लगता है)

दुर्दम—मैं अब यों न मानूँगा। एक एक क्रान्तिकारी का नाश करना होगा।

(द्वारपाल का प्रवेश)

द्वारपाल—महाराज, एक सैनिक बाहर खड़ा है। श्रीमान् के दर्शन करना चाहता है।

दुर्दम—सैनिक, कौन सा सैनिक ?

द्वारपाल—शात नाम का सैनिक, नाथ !

दुर्दम—शात (कुछ सोचकर) उसे तो मैंने बर्हि को पकड़ने भेजा था। बुलाओ। (द्वारपाल जाता है तथा सैनिक के साथ प्रवेश करता है, सैनिक प्रणाम करके एक ओर खड़ा हो जाता है) शात, सुना क्या समाचार है ?

शात—महाराज के प्रताप से हमने नदी में डूबती हुई बर्हि को पकड़ा है।

दुर्दम—नदी में डूबती हुई बर्हि को ! बर्हि को, असम्भव !

(कुछ बँधे हुए नागरिकों के साथ मंत्री, सेनापति तथा सैनिकों का प्रवेश)

सैनिक—जय हो महाराज की !

दुर्दम—(शात से) बर्हि को माहिष्मती के बन्दीगृह में डाल दो। ध्यान रहे वह किसी प्रकार भी बाहर न निकलने पावे। (प्रधान मंत्री कुछ सैनिकों को आदेश देता है तथा सैनिकों के साथ शात लौट जाता है, नागरिकों से) तुम लोग किसको राजा मानते हो जी ? (नागरिक चुपचाप खड़े रहते हैं) सुनो, यह मेरे अन्तिम वाक्य हैं या तो तुम मेरी अधीनता स्वीकार करो नहीं तो महाकाल की कठोर गोद में सोने के लिये तैयार हो जाओ। सुना, सुनते हो ?

पहला नागरिक—(आगे बढ़ कर) हम लोगों पर अत्याचार करने का तुम को कोई अधिकार नहीं है। तुम बलवान हो, इतने से ही क्या तुम्हारी आकाश को फोड़ कर ब्रह्मा के सिर से टकराने वाली इच्छाओं को ठीक कहा जा सकता है ? याद रखो, अभिमान पतन का सब से ऊँचा शिखर और पाताल की उल्टी पीठ है। यह प्रश्न है, समझे राजा !

दूसरा नागरिक—हम लोग तुम्हारा शासन मानने को तैयार नहीं हैं।

तीसरा नागरिक—इस राज्य से तो मर जाना अच्छा है !

दुर्दम—(क्रोध से काँपता हुआ) किस का किस पर कितना अधिकार है, यह बतलाने की आवश्यकता नहीं है। मेरी स्पष्ट आज्ञा है, यदि इसका पालन नहीं कर सकते तो मरने के लिये

तैयार हो जाओ। मैं अयोध्या में पहले की तरह फिर रक्त की नदी बहा दूँगा। एक एक नागरिक को मृत्यु की लपलपाती अग्नि की आहुति बना दूँगा। सेनापति, इनको पकड़ कर ले जाओ। यदि यह लोग न मानें तो सम्पूर्ण प्रजा जनों के सामने इनको फाँसी दे दो।

पहला नागरिक—हाँ फाँसी दे दो। हम मरने को तैयार हैं, बस!

(एक सैनिक दौड़ता हुआ आता है)

सैनिक—महाराज की जय हो!

दुर्दम—(क्रोध से) क्या है रे?

सैनिक—महाराज! (चुप हो जाता है।)

दुर्दम—क्या बात है, कहता क्यों नहीं!

सैनिक—हे देव, कुन्त और त्रिपुर कारागार से निकल कर भाग गये!

सब—(आश्चर्य से) भाग गये!

दुर्दम—उस समय वे जिस रक्षक के अधिकार में थे, उसको भी फाँसी दे दो। सेनापति, मेरी आज्ञा का शीघ्र पालन होना चाहिये।

सेनापति—जो आज्ञा। (सब चले जाते हैं, केवल मंत्री और दुर्दम रह जाते हैं)

दुर्दम—अब सब ठीक हो जायेगा। बर्हि को पकड़ लिया गया है। बर्हि को...नदी में डूबती बर्हि को। (सोच कर) वह नदी में क्यों

डूब रही थी ! (ध्यान आते ही) साँपिन की तरह भयंकर बर्हि नदी में क्यों डूब रही थी ? नहीं, बर्हि न होगी उस सुन्दर अग्नि को एक बार देखूंगा, वह भयंकर है, डर लगता है नहीं, उसे दूर ही रहने दो। मंत्री, शात को बुलाओ !

प्रधान मंत्री—(शात को बुलाने बाहर जाता है, बाहर से लौटकर) महाराज, वे लोग तो माहिष्मती नगरी को चले गये।

दुर्दम—चले गये ! बर्हि का पकड़े जाना असम्भव है सर्वथा असम्भव ! बर्हि वह नहीं हो सकती मंत्री, अब हमें क्या करना चाहिये !

प्रधान मंत्री—वही जो महाराज कर रहे हैं !

दुर्दम—तुम्हारा विचार बदल गया !

प्रधान मंत्री—निश्चय से। महाराज, विशालाक्षी और उसके पुत्र का कुछ भी पता नहीं लग रहा है। चारों ओर दूत भेजे हैं।

दुर्दम—(ध्यान आते ही) हाँ,उसकी खोज तो होनी ही चाहिये। (पैर पटक कर) मैं विशालाक्षी और उसके पुत्र को चाहता हूँ। वह बर्हि नहीं हो सकती मंत्री ! ओह, मैं बर्हि को पहचानता हूँ। मैंने कितनी भूल की। तुम बर्हि को पहचानते हो ? बड़ी भयंकर है वह !

प्रधान मंत्री—नाथ !

दुर्दम—ठीक है, मैं बाहु के पुत्र को चाहता हूँ। वह मुझे मिलना ही चाहिये। प्रत्येक ऋषि के आश्रम में उसकी खोज करो। मैं भी

गुप्त रूप से उसे खोजूँगा। वृक्ष की जड़ काटने से ही वह निर्मूल हो सकता है। मंत्री, सम्पूर्ण दक्षिणी और पूर्वीय देशों में इस समय हैहय वंश का राज्य है। मैं सम्पूर्ण भारत पर हैहय वंश का एकच्छत्र राज्य चाहता हूँ। समझे! मेरी आशाओं का समुद्र बड़ा गहरा है बड़ा ऊँचा भी, ऊँचा! मैं उसी का स्वप्न देख रहा हूँ।

(इसी विचार में एक आसन पर बैठ जाता है)

पटाक्षेप

———

पाँचवाँ दृश्य

(नगर में ढिंढोरा पिट रहा है । लोग चौंक चौंक कर सुन रहे हैं)

एक घोषणाकरनेवाला—(ढिंढोरा पीटता हुआ, ढम ढम ढम) नगर के लोगों को आदेश दिया जाता है कि आज कुछ विद्रोही नागरिकों को अयोध्या के बाहर मैदान में फाँसी दी जाने वाली है, सब लोग जाकर देखें और आज से महाराज का नृपति होना स्वीकार करें, नहीं तो इसी प्रकार एक एक करके सब नगर निवासियों को मार डाला जायगा । (ढम ढम ढम ढम)

दूसरा घोष०—महाराज दुर्दम की जय ! महाराज की आज्ञा है कि नगर निवासी अब भी सावधान हो जायँ और महाराज को अपना राजा मानें ।

पहला नागरिक—इस अत्याचार की भी कोई सीमा है !

दूसरा नागरिक—हमारी आत्मा और स्वाधीनता को कुचला जा रहा है ।

तीसरा नागरिक—अब तो अयोध्या को छोड़ कर दूसरी जगह जाना ही ठीक होगा । यह नगर अब रहने योग्य नहीं रहा !

घोषणाकर०—(ढम ढम ढम ढम) सुनो नागरिको, आज कुछ विद्रोही लोगों को अयोध्या के बाहर फाँसी दी जाने वाली है । सब

लोग उस दृश्य को देखें और महाराज की अधीनता स्वीकार करें। (ढम ढम ढम)

(एक और आदमी आता है)

आगन्तुक—यह कैसी घोषणा है भाई ?

दूसरा नागरिक—कुछ लोगों को आज फाँसी दी जायगी !

आगन्तुक—फाँसी, फाँसी क्यों ?

दूसरा नागरिक—उन्होंने दुर्दम के प्रति विद्रोह किया है।

आगन्तुक—कैसा विद्रोह ?

दूसरा नागरिक—कल राजा की यात्रा के समय वे लोगों को भड़का रहे थे। लोग दुर्दम को अपना राजा नहीं मानते।

आगन्तुक—क्या किसी को जबर्दस्ती भी राजा माना जा सकता है ! बड़ा अन्धेर है ?

घोषणा०—(ढम ढम ढम ढम) सुनो नगर के रहनेवालो, आज कुछ विद्रोही नागरिकों को अयोध्या के बाहर मैदान में फाँसी दी जायगी। उस समय सब लोग इकट्ठे होकर उस दृश्य को देखें तथा अब से महाराज दुर्दम को अपना राजा मानें, नहीं तो सब विद्रोहियों को इसी प्रकार फाँसी दी जायगी (ढम ढम ढम ढम)

(चले जाते हैं)

पहला नागरिक—अब क्या करना चाहिये ?

दूसरा नागरिक—फाँसी होगी, नागरिकों को ! महाराज बाहु

को मार डाला, रानी विशालाक्षी का कुछ पता नहीं, युवराज न मालूम कहाँ गये, छोटी रानी बहिं पकड़ ली गई, सूर्यवंश का नाश कर डाला !

तीसरा नागरिक—पर अब किया भी क्या जाय !

चौथा नागरिक—पहले आत्मा फिर परमात्मा। हाथ पैर बचा कर मूँज़ी को टरका कर···हाँ···।

पहला नागरिक—अधीनता स्वीकार कर लो। सब झगड़ों से छुट्टी मिल जायगी।

दूसरा नागरिक—धिक्कार है तुम्हारे जैसे कायरों को ! सर्वनाश देखकर भी अपने को बचा रहे हो ?

तीसरा नागरिक—नहीं, हम मरेंगे। परन्तु इस राजा की अधीनता स्वीकार न करेंगे। चलो, अयोध्या में वीरता, त्याग, आत्मसमर्पण का भाव जाग्रत कर दें। अयोध्या की स्वतंत्रता की रक्षा के लिये अपनी बलि दे दें।

सब—ठीक है। आओ, हम लोग प्रतिज्ञा करें कि जीते जी दुर्दम का शासन स्वीकार न करेंगे। सब मिल कर गाते हैं:—

गाना—

आओ काँटों का मुकुट पहन, मरने के पथ पर आज चलें।
स्वातंत्र्य-उदधि को शोणित से भर देते प्राण जहाज़ चलें॥
नभ टूट पड़ें भूपर फैलें, भू रज उड़ बादल बन जावे।

तारों के स्मय से आग जले, सब की हुँकृति राज जलें ॥
बढ़ चलें एक ही सीधे पथ, बढ़ चलें एक ही आशा हो।
मरनेवालों की बाढ़ चले, जीवन में घोर निराशा हो ॥
हम चलें चलें बढ़ चलें और साँसों से फूटे राग यही ।
'जागे स्वतंत्रता का यौवन,' यौवन में यह अभिलाषा हो ॥
हुँकार उठे दुख पिस पिस कर, नभ के मर्मस्थल गूँज उठें ।
झनझना उठें, तूफान उठें, हाथों पर रख कर मौत चलें ॥
इस विषम विश्व के सागर में बडवानल के स्फुल्लिंग उड़ें ।
शत शत अगस्त्य बन प्राण पियें पीड़ित के व्यंग्य विहंग उड़ें ॥
इस जड़ जंगम में ज़हर भरा, यह पवन ज़हर ही उगल रही।
ये राजमहल के ऐश्वर्य नंगी साँसों के संग उड़ें ॥
तुम देख रहे हो, देखोगे, देखो बलियों के यान चले।
ओ निर्मम, सुनते हो सुनलो, पीड़ित के रोते प्राण चले ॥
आओ काँटों के मुकुट पहन मरने के पथ पर आज चलें।
स्वातंत्र्य-उदधि के शोणित को भर देते प्राण जहाज चलें ॥

(सब गाते हुए चले जाते हैं)

पटाक्षेप

चौथा अंक

पहला दृश्य

समय मध्याह्नोत्तर

(बन में आश्रम के बाहर मैदान में कुछ ऋषि बालक खेल रहे हैं, एक ऋषि बालक दौड़ता हुआ आता है)

आगन्तुक—(हाँफता हुआ) अरे तुम ने सुना ! (सब बालक खेल छोड़कर इकट्ठे हो जाते हैं)

सब—क्या, क्या ?

आगन्तुक—आज अयोध्या में कुछ लोगों को जान से मारा जा रहा है ?

सब—क्यों ?

(एक छोटा बालक आगे बढ़ता है, बाकी सब पीछे रह जाते हैं)

छोटा बालक—क्या बात है ?

आगन्तुक—न मालूम क्यों !

छोटा बालक—(आश्चर्य से) न मालूम क्यों !

आगन्तुक—हाँ, न मालूम क्यों !

छोटा बालक—मैं अयोध्या का राजा हूँ । मैं उनको बचाऊँगा ।

सब—(इकट्ठे होकर) हा हा हा हा, ये अयोध्या के राजा हैं ! देखो, ये अयोध्या के राजा हैं। ज़रा से, हा हा हा हा, देखा अयोध्या का राजा तुमने ?

छोटा बालक—(क्रोध मे) हाँ, मैं अयोध्या का राजा हूँ। मै तुम्हारा भी राजा हूँ।

पहला—(खिलखिलाकर) हमारा भी !

दूसरा—हमारा भी ! (और ज़ोर से) हमारा भी ! (आगे बढ़कर) ऋषियों का भी कोई राजा होता है, हा हा हा हा !

तीसरा—हम तो ऋषि हुए।

चौथा—हमारे पिता ऋषि हैं। (कूदने लगता है) हम ऋषि-पुत्र है। ओं भूर्भुवः स्वः।

(छोटा बालक क्रोध में भरकर एक तरफ़ खड़ा हो जाता है)

पहला—(दूसरे से) तुम इस मंत्र को कैसे बोलते हो जी, यज्ञेन यज्ञमयजन्तदेवाः।

दूसरा—नहीं यों पढ़ो (यज्ञे३न यज्ञमयजन्त दे३वाः। बोलकर कूदने लगता है)

तीसरा—तुम यजुर्वेद की कौन सी शाखा पढ़ते हो ?

पहला—शुक्ल तो, अरे तुम्हें यह भी नहीं मालम ! हा हा हा इतना भी नहीं जानते।

तीसरा—तो दूसरे अध्याय का पहला मंत्र बोलो ! बोलो !

पहला—अरे यहाँ सब याद है !

तीसरा—स्वर भी क्या ?

पहला—हाँ हाँ, स्वर भी ! (कूदने लगता है) सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्, समझे। सब याद हैं।

दूसरा—याद तो है भाई ! अब तो तुम हार गये।

चौथा—(कूदता हुआ) हार गये, हार गये, हार गये जी !

सब—(तीसरे को छोड़कर) हार गये, हार गये, हार गये जी !

छोटा बालक—(क्रोध में उन सब के पास जाकर) तुम क्यों बोलते हो ? तुम्हें मालूम नहीं, आज अयोध्या के सब नागरिकों को फाँसी दे दी जायगी ! चुप रहो।

सब—(भौंचक्के से होकर) तुम हमें रोकने वाले कौन ? हम तो बोलेंगे !

छोटा बालक—(आगे बढ़कर) तुम बोलोगे ? (एक बाण तानकर) बोलो, अब बोलो।

सब—तुम हमें मारोगे ! हम ऋषि पुत्र हैं।

छोटा बालक—मैं तुम्हारा राजा हूँ। आओ अयोध्या लड़ने चलें।

सब—जाओ हम नहीं जाते। हम लड़ना नहीं जानते।

छोटा बालक—(दो लड़कों को पकड़कर खींचने लगता है, वे दोनों यत्न करके भी उससे नहीं छूट पाते और वह घसीटे लिये जाता है) आओ, मैं तुम्हें लड़ना सिखाऊँ। (सब चिल्लाने लगते हैं और वे दोनों रोने लगते हैं)

(अरुन्धती का प्रवेश)

अरुन्धती—अरे क्या है, यह कैसा गुलगपाड़ा है ?

सब—देखो माता, देखो माता, वह नया ऋषिकुमार उन दोनों को घसीटे लिये जा रहा है !

अरुन्धती—(देख कर) सगर, बेटा सगर, कहाँ जाते हो ?

(अरुन्धती को आया जान कर भी वह उन्हें घसीटे लिये जा रहा है, अरुन्धती हँसती हुई दौड़कर उसके पास जाकर उसका हाथ पकड़ लेती है) बेटा सगर, कहाँ जा रहे हो ?

सगर—(खड़ा होकर) अयोध्या जा रहा हूँ माँ !

अरुन्धती—अयोध्या ! अयोध्या क्यों ?

सगर—मैं उन आदमियों को बचाऊँगा जो। (खींचने लगता है)

अरुन्धती—अरे ठहर तो, किन आदमियों को ?

सगर—माता, तुम्हें नहीं मालूम ! मैं इन दोनों को साथ ले जाकर उन्हें बचाऊँगा।

अरुन्धती—(सगर को प्रेम पूर्वक गोद में लेकर) बेटा, तुम हमारे राजा हो। आओ चलो घर चलें, साँझ हो रही है। पूजा का समय

हो रहा है। (ले जाती है)

सब—(आपस में) ये हमारे राजा हैं ! बड़ा बली है भाई ? दोनों को घसीट लिया !

एक—माता जी कह रही हैं !

दूसरा—ठीक होगा, पर इतना छोटा सा !

तीसरा—राजा बहुत बड़ा होता है समझे !

एक—अर्थात् ?

तीसरा—बहुत बड़ा । (दोनों हाथ फैला कर) इतना बड़ा क्यों न ?

सब—हाँ ठीक है, पर ये भी तो राजा है ! आओ चलें ।

(सब चले जाते हैं)

पटाक्षेप

दूसरा दृश्य

सन्ध्या समय

(वशिष्ठ का आश्रम । अग्निहोत्र के बाद गुरुदेव कुछ शिष्यों और धर्मपत्नी अरुन्धती के साथ धर्म-चर्चा कर रहे हैं)

अरुन्धती—स्वामिन्! संसार में धर्मात्मा लोग दुखी क्यों हैं ?

वशिष्ठ—दुखी तो सब ही होते हैं। सुख दुख तो जीवन का लक्षण है। मानसिक जगत् के दो पहलू हैं—एक सुख, दूसरा दुख। जो मनुष्य जितना ही अधिक दुख उठाता है, वह उतना ही स्वच्छ होता जाता है और उतना ही वास्तविक सुख की ओर बढ़ता है। सुख में मनुष्य के पुण्य और दुःख में पापों का क्षय होता है। मनुष्य का जीवन पाप और पुण्य के योग से बना है। जिस प्रकार काल का जीवन दिन और रात हैं, आकाश का जीवन सूर्य और चन्द्र हैं उसी प्रकार मनुष्य का भी! सुख और दुख सापेक्ष पदार्थ हैं। वे तो सब के लिए एक से हैं। धर्मात्मा और पापी का इस में प्रश्न ही नहीं।

अरुन्धती—परन्तु मैं देखती हूँ, सूर्य और चन्द्रमा को ग्रहण लगता है, तारों को नहीं।

वशिष्ठ—ग्रहण तो सबको लगता है परन्तु सूर्य और चन्द्र हमारी दृष्टि के इतने पास हैं कि उनके सम्बन्ध में थोड़ा सा विकार

होते ही हम जान जाते हैं। क्या आकाश में उल्कापात नहीं होता ? तारे टूट कर नहीं गिरते ? नीलाकाश में बादल नहीं छा जाते ? उनमें बिजली नहीं कौंधती ? नदियों का जल गंदला नहीं होता ? जिस प्रकार काजल लगने से आँखों का प्रकाश बढ़ता है, माँजने से पात्र चमकने लगता है, तपाने से सोना निखरता है, इसी प्रकार दुख से—जिन्हें हम लोग जीवन की परिभाषा में 'दुख' कह कर पुकारते हैं, पुण्य चमकता है। हमारी सहानुभूति महाराज बाहु के साथ इसी लिये अधिक है कि उन्होंने धर्मात्मा होते हुए दुख भोगा। शिवि को लोग क्यों याद करते हैं इसी लिये न, कि उन्होंने कर्तव्य पालन करते हुए दुख भोगा। दुख से मनुष्य की आत्मा निखरती है। वह धर्म की ओर बढ़ती है।

(बर्हि का प्रवेश)

बर्हि—गुरुदेव, प्रणाम करती हूँ। (हाथ जोड़ कर एक ओर खड़ी हो जाती है)

वशिष्ठ—(आश्चर्य से) आओ बेटी, तुम से मिलना चाहता था, बैठो !

बर्हि—महाराज, मैं तप्तांगार की भाँति जल रही हूँ। प्रायश्चित्त, पश्चात्ताप के धुँए ने मेरा दम घोंट डाला है। मैं जल रही हूँ गुरुदेव! दिन और रात, प्रातः और सायं मैं जलती रहती हूँ। मेरा हृदय क्रन्दन करता हुआ उबल रहा है। मेरे हृदय में शान्ति नहीं है।

मैं उल्लास के ऊँचे शिखर से खिसक पड़ी हूँ देव, कृपा कीजिये।

वशिष्ठ—शान्त हो बेटी! आज तुमने अपने आपको पहचान लिया बस, यही तुम्हारा प्रायश्चित्त है। विवेक मनुष्य के दुख को जलानेवाला अमोघ बाण है। तुम्हारे सब पाप भस्म हो चुके हैं। शान्त हो। (अरुन्धती से) देवी, आश्रम में ले जाकर इनका यथोचित सत्कार करो। अब इनका पाप शान्त हो गया है।

बर्हि—गुरुदेव, मेरे पाप अनन्त हैं, उनका प्रायश्चित्त इस छोटे से जीवन में हो सकना असम्भव है। मैं जलूँगी, मेरे अन्तिम श्वास से भी अग्नि वर्षा ही होगी! विधाता, मैं अचल जीवन धारण कर के इन्हीं पापों में जलूँ। तू मुझ में बल दे। (पछाड़ खाकर जमीन पर गिर पड़ती है।)

अरुन्धती—(उठाकर) आओ बेटी, चलो! (हाथ पकड़ कर ले जाती है)

एक शिष्य—गुरुदेव, क्या यही रानी बर्हि है?

वशिष्ठ—हाँ यही, ठीक यही, जो पश्चात्ताप और आत्मशुद्धि की आग में पिघल कर कांचन हो गई है। यही है वह बर्हि च्यवन! ओह!

च्यवन—(हाथ जोड़ कर) क्या उत्थान भी पतन की तरह प्रवृत्ति का एक झोका नहीं है! हो सकता है प्रवृत्ति फिर पतनोन्मुख हो जाय!

वशिष्ठ—स्त्री प्रवाह की एक लहर है जो वायु के वेग के साथ चलती है। यदि वह धार बन जाय तो फिर उसे कोई साधारण शक्ति नहीं मोड़ सकती। हार्दिक पश्चात्ताप के आँसू दृढ़ता की भूमिका हैं, एक बार उमड़ कर वह हटना नहीं जानते। जीवन घटनाओं का प्रतिबिम्ब है, जिसमें संस्कार की तहें जमकर मनुष्य को बोझिल बना देती हैं। वह उनसे मुँह नहीं मोड़ सकता। विश्वास है कि बर्हि का यह जागरण फिर सोने के लिये नहीं होगा। जाओ तारे निकल आये, मेरे ध्यान का समय हो गया। (शिष्य प्रणाम करके जाता है)

सुख और दुख को छोड़ने का नाम समाधि है और ज्ञान अज्ञान से निस्पृह रहने का नाम विवेक।

(ध्यान मग्न हो जाते हैं)

पटाक्षेप

तीसरा दृश्य

रात का तीसरा पहर—

(वशिष्ठ के आश्रम के बाहर घोर अन्धकार है, बर्हि एक वृत्त के नीचे खड़ी है)

बर्हि—मैं बहुत आगे बढ़ आई हूँ। बहुत आगे ! स्मृतियों के तेज़ चलने वाले रथ अब मुझे नहीं पकड़ सकते। मैं जल कर राख हो गई हूँ, अब आग नहीं बन सकती। मैं पत्थर हूँ, जिसके ऊपर हजारों धाराएँ निकल चुकी हैं। मैंने सहस्रों बादलों की गर्जनाएँ सुनी हैं। मैं बहुत आगे आगई हूँ। (कुछ सोच कर) क्या यह मेरी निर्बलता नहीं है। स्त्री का रूप; कोमलता, सौन्दर्य है ! मैं इसको लात मार कर दौड़ी हूँ। मैंने क्या किया ! हा, मैंने क्या किया ! कितना अपलाप है यह मेरे जीवन का ! कितनी लाञ्छना है मेरी आत्मा की ! बहुत बुरा हुआ। गुरुदेव के आशीर्वाद से आज जब कि मेरे अस्थिर अंगों में एक शान्ति सी लहरा रही है। मैं क्या उसे छोड़ रही हूँ ? मैंने संचित हृदय के प्रणय को, प्रेम को, कोमलता को, उजले आदर्श को, अनजान में लुटा दिया ! नहीं, नहीं, अब मैं संन्यासिनी होकर, वीतराग होकर, अन्तिम, कुछ अन्तिम घड़ियों को शान्ति की खोज में बिताऊँगी। (फिर कुछ सोच कर) मूर्ख, मैं बड़ी मूर्ख हूँ। नहीं, यह नहीं हो सकता। नदी टेढ़ी मेढ़ी होने पर

भी पीछे नहीं लौट सकती। सूर्य पश्चिम में पहुँच कर मुड़ नहीं सकता। बूँदें पृथ्वी पर गिर कर बादल नहीं बन सकतीं। मैं ही फिर क्यों पीछे हटूँ? कठिन है, असम्भव है। मेरी आहों का प्रखर स्रोत सगर की ओर बह रहा है। दुष्ट सगर की ओर, दुष्ट विशालाक्षी की ओर; जिसने मेरा जगमगाता संसार अमावस की अँधेरी से लीप दिया। सगर से बदला लेना ही होगा। सगर ही मेरी हिंसा का मीठा और विषैला पात्र है। वह इसी आश्रम में है। अरुन्धती की श्वासों से उसकी लटें हिल रही हैं। मैंने जब से उसे देखा है, मैं पागल सी हो गई हूँ। मैं उसको पीस डालूँगी। वह मेरे हृदय की घृणा है, वह मेरी आत्मा का द्वेष है, तिरस्कार है। मैं उसे कुचल दूँगी। साँप, साँप के एक बार हाथ से निकल जाने पर भी न्यौला उसे नहीं छोड़ता! मैं उस अभागे को खिला खिला कर मारूँगी। यही मेरी प्रतिज्ञा है। इसी आशा में मैं आज तक जीती आ रही हूँ। वह सो रहा है। चलूँ, देखूँ—(एक-दम वेग से आश्रम के भीतर घुस जाती है। इसी समय नेपथ्य में एक उल्लू पक्षियों के घोंसले पर झपटता सुनाई देता है, पक्षी चिल्लाने लगते हैं। वह सगर को गोद में लेकर उसी वृक्ष के नीचे आ जाती है) मार दूँ? पत्थर से कुचल कर, झँझोड़ कर, गला घोट कर पीस डालूँ? अभागे, तू इसी लायक है। नहीं, एकान्त में ले जाकर इसे मारूँगी। जहाँ कोई बचानेवाला न होगा।

जहाँ मेरी आत्मा का अट्टहास इसकी अन्तिम घड़ियों से मिलकर सदा के लिये आकाश में लीन हो जायगा। (वेग से एक ओर को चली जाती है)

पटाक्षेप

चौथा दृश्य

रात का पहला पहर—

(माहिष्मती नगरी के बन्दीगृह में विशालाक्षी बाल बिखेरे बेसुध सी बैठी हुई है। एक स्त्री बाहर कुछ दूर पर पहरा दे रही है)

विशालाक्षी—गुनगुना कर गाने लगती है—

आशाओं का पुंज अँधेरा बनकर आँखों में आता है।
फिर रोने के लिये हँसी को कोई यहाँ बुला लाता है॥
पीड़ित प्राणों के सब कम्पन मुझे बहा ले जाने आये।
अपने में खो जाने को ही मेरे हृदय अश्रु भर लाये॥
कोई लूट रहा है मेरा संचित प्यार हृदय प्याली से।
मैं अपने ही आप लुटी हूँ अपनी उलझन मतवाली से॥
मेरे साथ हिलकियाँ भरने भादों की रातें आती हैं।
पर मैं रोती ही रहती हूँ वे ऊषा बन हँस जाती हैं॥
प्राणों के उथले प्यालों में मद सा मीठा प्यार भरा था।
जिसको पीने से ही स्वर्णिल स्वप्नों का संसार हरा था॥
क्षण भर भी न हाय, वे सपने मधुर जागरण ही बन पाये।
बुझा दिये झप से झंझा ने स्नेह-दीप सब जले जलाये॥

पहरेदार स्त्री—बड़ी दुखिया देख पड़ती है। बिचारी हर

समय रोती ही रहती है। अच्छा, यह रोना हँसना तो सदा लगा ही रहता है। इसके अतिरिक्त इस बन्दीगृह में हँसनेवाला तो मिला ही नहीं। भला, कारागार में भी कोई हँसता है ? (खकारकर) मुझे अपना काम करना चाहिये। (मुस्तैदी से खड़ी हो जाती है)।

विशालाक्षी—यह क्या, मैं रोती ही क्यों रहती हूँ ? बहुत तो रोई हूँ। क्या मैं उस उपसर्ग के समान हूँ, जिसका अपना स्वतंत्र कोई मूल्य नहीं ?

दुख का अन्तिम उद्गार रुदन है, जैसे प्राणों का अन्तिम सुख हास। किन्तु रोने के अतिरिक्त मैं और जानती भी क्या हूँ ! जानूँगी भी क्या ! मुझे तो यह भी नहीं मालूम कि मैं कहाँ हूँ ? धूप की तरह उजली आँखों में यह पानी क्यों भरभर आता है ? मेरी हिलकियाँ फफक फफक कर किसे याद करती हैं ? यह एक काँटा सा मेरे हृदय में क्या चुभ रहा है ? मैंने किसी का क्या बिगाड़ा था जो मेरा बिगड़ गया। मैंने कब किसी को सताया जो बहुत दिनों से सताई जा रही हूँ। मेरा हृदय रोकर सूज उठा है। वह अब न मिलेगा (याद आते ही) अब कहां मिलेगा वह ? तारों की तरह छोटा, जुगनू की तरह स्वतन्त्र, विलास की तरह प्यारा, आनन्द की तरह मधुर, (रोकर) अब...नहीं, अब वह न मिलेगा। (सोचती हुई बेसुध होकर खड़ी हो जाती है) हाहा, हाहा, हाहा, हाहा, हाहा, हाहा, कौन कहता है यह अँधेरा है! खूब उजाला तो है। मैं रानी हूँ रानी । जीवन की,रानी,

हृदय की रानी । मैं...!(धड़ाम से गिर पड़ती है) ।

पहरेदार स्त्री—(धमाके की आवाज़ सुनकर) हैं, यह क्या ! अभी यह रो रही थी अब हँसने लगी । पागल है क्या ! क्या गिर पड़ी ! (पास जाकर) हाय, मेरा भी कैसा बुरा काम है ? वह स्त्री ही क्या जो दूसरे को रोते देख कर रो न पड़े । हाय, इस बिचारी की यह दशा ! कहती थी बहुत दिनों से रो रही हूँ । (आँसू पोंछकर विशालाक्षी को सँभालती है) बेसुध है । अरी बहन उठ, तुझे क्या दुख है ? ओह, यह तो बोलती भी नहीं है । हाय, इसे क्या हो गया !

विशालाक्षी—(आँखें बन्द किये) चाँद निकल रहा है टुकड़े होकर हृदय उफन रहा है पानी बनकर । हा हा हा हा । खूब, तुम्हीं तो कहते हो मैं रोती हूँ । तुम चले जाओगे ? मैं भी तुम्हारे साथ चलूँगी चलो, चलो (उठकर खड़ी हो जाती है और सींकचों से टकरा कर गिरने लगती है इतने में स्त्री पहरेदार उसे पकड़ लेती है) हा हा हा हा !

स्त्री पहरेदार—अरी भलीमानुस, यह सब क्या हो रहा है ? (उसे आराम से लिटा देती है)

विशालाक्षी—सब सो गये ! सो गये ।

(बेहोश हो जाती है)

पटाक्षेप

पाँचवाँ दृश्य

समय मध्याह्नः—

(महर्षि वशिष्ठ का आश्रम, कुछ प्रजाजन बैठे हैं)

पहला प्रजाजन—महाराज, अब तो यह अत्याचार दिन पर दिन असह्य होता जा रहा है। उस दिन दुर्दम ने विद्रोही कह कर प्रजा के कुछ लोगों को फाँसी पर चढ़ा दिया।

दूसरा प्रजाजन—हम सब के सामने हँस हँस कर हमारे ही भाईयों को उन चाण्डालों ने मार डाला! हा, वह दृश्य कैसा भयानक था! सुना है युवराज सगर को रानी बर्हि फिर उठा ले गई।

वशिष्ठ—(खिन्न मन से) घोर कष्ट का समय है। हमने समझा था कि रानी प्रायश्चित्त से शुद्ध हो रही है परन्तु उसने बड़ा धोखा दिया। देवी अरुन्धती उसी समय से बड़ी चिन्तित हैं।

पहला प्रजाजन—अयोध्या के ऊपर घोर संकट उपस्थित हो रहा है महाराज, बचाइये!

(ऋषि और्व का प्रवेश उन के आते ही वशिष्ठ सहित सब लोग खड़े हो जाते हैं)

वशिष्ठ—(अभ्यर्थना करते हुए) आइये महर्षि, आपने बड़ी कृपा की। हम लोग इस समय देश के संकट पर विचार कर रहे हैं।

औौर्व—(बैठते हुए) विचार, विचार कैसा ? क्या युवराज सगर पर फिर कोई संकट आ गया है ?

वशिष्ठ—हाँ, उस दिन रानी वहीं यहाँ आई और अपने पापों का प्रायश्चित्त करने लगी। हमने सान्त्वना देकर उसे आश्रम में ठहराया। हमने समझा कि रानी अब ठीक हो गई है परन्तु वह रात को सोते हुए युवराज को उठा कर ले गई। इधर दुर्दम ने प्रजा के कुछ लोगों को विद्रोही कह कर फाँसी पर लटकवा दिया।

और्व—(गम्भीरता से सोच कर) दुष्ट पुरुष से सब कुछ सम्भव है। अब रानी और दुर्दम का अन्त समय है। वह बड़ा प्रतापी बालक है। इस समय जहाँ कहीं भी हो, सगर को ले आना चाहिये।

वशिष्ठ—मैंने इस काम के लिए त्रिपुर और कुन्त को भेजा है, वे विश्वस्त पुरुष हैं, सगर जहाँ कहीं भी होगा वे ले आवेंगे।

पहला प्रजाजन—महाराज, त्रिपुर और कुन्त भी दुर्दम के ही···।

वशिष्ठ—ठीक है वे दोनों पहले उसी के आदमी थे। किन्तु अब वे हमारे पक्ष में हैं।(दूसरा संदेह से देखने लगता है)

और्व—संदेह की कोई बात नहीं, उन्होंने महाराज और महा-रानी की रक्षा की है। दोनों की बीमारी में वे ही वैद्य को लाये थे।

वशिष्ठ—इसी कारण दुर्दम ने उन्हें फाँसी का दण्ड भी दिया था परन्तु सूर्यवंश की सेवा के लिए वे बन्दीगृह से भाग आये।

इस के अतिरक्त बर्हि जिस समय युवराज को नदी में फेंकने लगी, उस समय त्रिपुर ही रानी से सगर को छीन कर मेरे पास लाया था। मुझे उन दोनों पर पूरा विश्वास है।

और्व—संसार में न्याय ही एक ऐसा विधान है जो शत्रु को भी मित्र बना सकता है। ऋषिवर! कुन्त और त्रिपुर विश्वास के योग्य हैं। लो वे आ गये।

(कुन्त और त्रिपुर का प्रवेश)

त्रिपुर—(हाथ जोड़कर) प्रणाम करता हूँ गुरु देव! (और्व को भी प्रणाम करता है)

कुन्त—(दोनों को) अभिवादन करता हूँ देव!

वशिष्ठ और और्व—(आशीर्वाद देकर) सुनाओ, कैसे समाचार हैं?

त्रिपुर—देव, युवराज नहीं मिले। वे बर्हि के पास नहीं हैं। रानी बर्हि यहाँ से कुछ दूर एक बन में सगर को लेकर मारना चाहती थी कि दुर्दम स्वयं सगर को उस से छीन कर ले गया। यह बात रानी ने स्वयं हम से कही है।

वशिष्ठ—यह तो बुरा हुआ, बहुत बुरा हुआ! अच्छा, उसने तुमसे क्या कहा था?

पहला प्रजाजन—हा विधाता!

दूसरा प्रजाजन—न जाने क्या होने वाला है!

त्रिपुर—जिस समय हम लोग युवराज को ढूँढने निकले, उस समय सूर्य निकल आया था। रानी दूर बन में एक वृक्ष के नीचे बैठी आँसू बहा रही थी। हम दोनों पास ही एक वृक्ष से सट कर खड़े हो गये। वह उस समय युवराज को याद करके रो रही थी। उसके प्रलाप से जब हमें कुछ भी ज्ञात न हो सका, तो हम दोनों उसके पास चले गये। उसके हाथ से खून बह रहा था। हमें देख कर वह और ज़ोर से रोने लगी। रोते रोते उसने वह सारी कहानी सुनाई किस तरह वह सगर को मारना चाहती थी, किस तरह मारने का संकल्प करते ही उसके प्राणों में बिजली सी दौड़ गई! और इतने में युवराज उठ बैठे और वह युवराज के मारने से डर गई। इधर दुर्दम कुछ सैनिकों के साथ इसी खोज में वहाँ आ निकला। युवराज हैरान थे, न तो वे रानी को जानते थे और न दुर्दम को। रानी ने दुर्दम से युद्ध किया। परन्तु निहत्थी होने के कारण दुर्दम रानी को वहीं छोड़ सगर को ले भागा। रानी ने भी हाथ पैर चलाए परन्तु वह कुछ भी न कर सकी।

और्व—महारानी विशालाक्षी कहाँ है?

त्रिपुर—उनका कुछ भी पता नहीं। सुना है माहिष्मती के बन्दीगृह में हैं।

वशिष्ठ—बन्दीगृह में? अच्छा बाहु कहाँ है?

त्रिपुर—उसके बाद वह एक दम पागल सी हो गई हैं। उन्हें अपने तन बदन की सुध नहीं है। वहाँ से एक दम उठ कर वे कहीं चली गईं। मेरा तो विश्वास है, दुर्दम बर्हि को भी पकड़ना चाहता था। परन्तु...।

औौर्व—घोर कष्ट का समय है। (वशिष्ठ से) ऋषिवर, आप के एक भृकुटिपात से शत्रु का नाश हो सकता है। अब आप क्या देख रहे हैं?

दूसरा प्रजाजन—एक तीखी नज़र डालते ही शत्रु का सब वैभव नष्ट हो जायगा महाराज!

तीसरा प्रजाजन—महारानी का भी ठीक पता नहीं लग रहा है, न मालूम वे किस संकट में होंगी।

त्रिपुर—'जहाँ धर्म है, वहाँ जय है' इस मर्यादा का पालन होना ही चाहिये प्रभुवर!

वशिष्ठ—ठीक है त्रिपुर, देश की अवस्था ने हम तपस्वियों के हृदय में उथल पुथल मचा दी है। ऐसे कठिन समय में तप करना पाप है। इसे तो एक प्रकार का विलास ही कहना होगा। अच्छा, ऐसा ही होगा। (प्रजा के लोगों से) तुम सब अयोध्या के सैनिक और प्रजाजन एकत्र होकर विद्रोह करो, शत्रुओं को मारो। मैं तुम्हारी सहायता करूँगा। (त्रिपुर से) तुम आज ही युवराज का ठीक ठीक पता लगाओ। हो सके तो किसी तरह उसे मेरे पास ले आओ।

मैं केवल सूर्यवंश के लिये रखे हुए अस्त्र शस्त्र देकर युवराज सगर के द्वारा शत्रु का सम्पूर्ण नाश कराऊँगा। वह वीर है, प्रतापी है, वह परम तेजस्वी और शुद्ध सूर्यवंशी है। मैंने यहाँ उसको दीक्षित कर दिया है। मुझे आज संहारकारिणी शक्ति की साधना करनी होगी। एक बार फिर विश्वामित्र की तरह पापी दुर्दम को दण्ड देना होगा। (क्रोध से) एक बार फिर ब्रह्मतेज को जगाना होगा। मैं साधना करता हूँ। जाओ। (वशिष्ठ की आँखों से आग की चिनगारियाँ निकलने लगती हैं, लोग भयभीत और निस्तब्ध से हो हाथ जोड़े खड़े रहते हैं)

पटाक्षेप

———

पाँचवाँ अंक

पहला दृश्य

समय तीसरा पहर

(अयोध्या के भीतर एक भाग में कुछ लोग खड़े बातें कर रहे हैं)

एक नागरिक—बस, अब कुछ भी देर नहीं है। परन्तु वह तो जैसे आग की तरह बरस रही थी। उसके शरीर में भगवती दुर्गा की तरह तेज निकल रहा था। (आश्चर्य से) ऐसा क्या कभी देखा था?

दूसरा नागरिक—न, सचमुच ऐसा कभी नहीं देखा। उसकी आँखों से आग की चिनगारियाँ छूट रही थीं। (तीसरे से) उसने क्या कहा, तुमने सुना?

तीसरा नागरिक—हमने, हमने कहाँ सुना? हम तो सुनने जा रहे थे कि तुम मिल गये। भला क्या कहा था?

दूसरा नागरिक—उसने जो कहा वह क्या दुहराने की चीज़ है? वह सब कुछ अपूर्व ही था।

चौथा नागरिक—क्या वह दुहराया नहीं जा सकता, सचमुच तब तो अपूर्व ही कोई बात रही होगी?

दूसरा नागरिक—उसने कहा था कि स्वतन्त्रता के लिये मरना जीने से हज़ार गुना सुन्दर है। तुम आज मरकर स्वतन्त्र जीवन के आनन्द की पगडण्डियों पर चलो, तुम देखोगे कि इस मरण में कितना

सौन्दर्य है, कितना जीवन है। तुम्हारा एक एक श्वास स्वतंत्रता के पथ को प्रकाशित कर रहा है। उस प्रकाश के सामने न सूर्य का प्रकाश है न चन्द्रमा का। तुम उठो, सरयू तुमुल नाद करती हुई तुम्हें जगा रही है। उसकी हिलोरों से सूर्यवंश की स्वतन्त्र रागध्वनि निकल रही है। तुम मनुष्य हो, मनुष्य स्वतन्त्र होकर जीवित रहने के लिये ही पैदा हुआ है। यदि वह दूसरे का अत्याचार सहता है तो वह जीवित नहीं, मृत है। महाराज बाहु नित्य आकाश के मार्ग से आकर अयोध्या की ओर, दीन, पराधीन, त्रस्त, जडित अयोध्या की ओर देखा करते हैं। उठो, इस पापी राजा का नाश कर दो। भगवान् वशिष्ठ तुम्हारी सहायता करेंगे। देखो, यह पापी तुम्हारे युवराज को मार डालना चाहता है। क्या तुम दीन, हीन, नपुंसक की तरह सूर्यवंश के एक मात्र दीपक सगर को मर जाने दोगे ? नहीं, मुझे विश्वास है तुम ऐसा न होने दोगे। वह सगर, जिसने एक पापी राजा का कुछ भी नहीं बिगाड़ा। वह सगर, जिसने तुम्हें सुख देने के लिए, तुम्हें बचाने के लिए, तुम्हारी सेवा के लिए जन्म लिया है, आज शत्रु के हाथ से मारा जा रहा है। उठो !

चौथा नागरिक—फिर क्या हुआ ?

पहला नागरिक—उस समय सभा में आग लग गई। प्रत्येक मनुष्य मानों हथेली पर सिर रख कर नाच रहा हो, ऐसा देख पड़ता था।

तीसरा—मैं तैयार हूँ।

चौथा नागरिक—मैं भी! भला फिर क्या हुआ? अच्छा यह थी कौन?

पहला नागरिक—यही तो मालूम नहीं हुआ। जिस समय दुर्दम के आदमी उसे चारों ओर से घेर कर पकड़ने के लिए आगे बढ़े तो उसने ऐसी विकराल दृष्टि से देखा मानों इसी समय समूचे विश्व को निगल लेगी। और वह उन सबके सामने से होकर निकल गई?

पाँचवाँ नागरिक—भला जी! (आश्चर्य से) सबके सामने से! तुम देखते रहे!

दूसरा नागरिक—क्या पूछते हो? ऐसा रूप कभी देखा था क्या? चलो!

चौथा नागरिक—कहाँ?

दूसरा नागरिक—लड़ने। झुण्ड के झुण्ड लोग इकट्ठे होकर महल में आग लगाने दौड़ रहे हैं, आज ही युवराज को छुड़ाना है।

चौथा—अरे! क्या लड़ना होगा?

सब—चलो, यह (चौथा) पागल है। सुना है महर्षि वशिष्ठ हम लोगों के नेता हैं। चलो? (जाते हैं)

पटपारिवर्तन

दूसरा दृश्य

तीसरा पहर—

(दुर्दम अयोध्या के महल के बाहरी दालान में टहल रहा है)

दुर्दम—यह सब तरह से ठीक हो गया। बिना परिश्रम के ही शत्रु हाथ में आ गया। अब हैहयवंश का अखण्ड छत्र अयोध्या के सिंहासन को सुशोभित करेगा। आज रात को ही समाप्ति है। इधर विशालाक्षी माहिष्मती के बन्दीगृह में है। उधर बर्हि पागल हो गई है। उससे अब मुझे कोई डर नहीं है वह सौतिया डाह के मारे ही मर रही है। इसी लिये मैंने सगर के साथ उसे नहीं पकड़ा। वह मेरा क्या बिगाड़ सकती है। आज युवराज को मरवा डालना होगा। शत्रु के रहते मैं निश्चिन्त होकर सो नहीं सकता। सब ठीक ही हुआ। वशिष्ठ, वशिष्ठ अब मेरा क्या कर सकते हैं। सगर के मरने के बाद निश्चित रूप से उन्हें मेरी तरफ़ आना होगा। आज सूर्यवंश के दीपक का अन्तिम प्रकाश है। वह जुगुनू अब अधिक देर तक प्रकाशित होकर नहीं रह सकता।

(प्रतिहारी का प्रवेश)

प्रतिहारी—जय हो महाराज की, सेनापति उपस्थित हैं।

दुर्दम—(पैर पटककर) हाँ हाँ, जल्दी उपस्थित करो।

(प्रतिहारी जाता है, सेनापति आता है)

आओ, आओ सेनापति, मुझे इस समय तुम्हारी ही आवश्यकता थी।

सेनापति—नगर में विद्रोह हो रहा है।

दुर्दम—आज रात को ही समाप्त हो जाना चाहिये !

सेनापति—इतनी जल्दी ? नगर में विद्रोह... !

दुर्दम—अवसर बार बार नहीं आता सेनापति, मुझे प्रजा के विद्रोह का कुछ भी भय नहीं है। मेरी भुजाएँ उसका उचित उपाय कर लेंगी। अब देर करने से ठीक न होगा। जाओ, आज रात को ही !

सेनापति—युवराज को किसी दूसरी जगह... ।

दुर्दम—(क्रोध से) युवराज, युवराज कैसा। वह मेरी आँखों का काँटा है। उसे दूर होना ही चाहिये।

सेनापति—महाराज, नगर के समाचार बड़े अशुभ हैं। सब बाजार बन्द हैं। झुण्ड के झुण्ड लोग इकट्ठे हो रहे हैं। कब क्या हो जाय कहा नहीं जा सकता महाराज ?

दुर्दम—सेना तैयार करो। नगर को चारों ओर से घेर लो। महल के चारों तरफ़ सेना का कड़ा प्रबन्ध होना चाहिये।

सेनापति—इतना कर देने पर भी जैसे मेरा साहस टूट रहा है।

दुर्दम—साहस टूटा हुआ देख पड़ता है, यह क्या कहते हो सेनापति ?

सेनापति—स्पष्ट तो यह है कि सगर को इस समय किसी तरह बाहर भेज देना ही ठीक होगा महाराज ?

दुर्दम—यह नहीं हो सकता सेनापति, यह नहीं हो सकता। मैं सगर को आज अपने हाथ से मारूँगा। (बाहर कोलाहल सुनाई देता है) देखो, सेनापति यह कैसा......।

(प्रतिहारी का आना)

प्रतिहारी—जय हो महाराज, सम्पूर्ण प्रजा में विद्रोह फूट पड़ा है। लोग दल के दल बाँधकर महल के चारों ओर खड़े हैं। बचाइये। (जाता है)

(दूसरा प्रतिहारी आता है)

दूसरा प्रतिहारी—जय हो देव, प्रजा ने महल में चारों ओर से आग लगा दी है। नगर में भारी हुल्लड़ मच रहा है। महर्षि वशिष्ठ लोगों को भड़का रहे हैं। (जाता है)

दुर्दम—सेनापति, जाओ इन सब का नाश कर दो। शत्रु दल का एक भी आदमी न बचने पावे। जाओ। (सेनापति जाता है) वशिष्ठ ने लोगों को भड़का दिया है। इस समय वशिष्ठ को भी दण्ड देना होगा। चलूँ। वशिष्ठ ने लोगों को भड़का दिया है।

(दौड़ता हुआ प्रतिहारी आता है)

प्रतिहारी—महाराज, सब स्वाहा हो रहा है । हमारी सेना

निःसाहस और शक्तिहीन हो रही है। (नेपथ्य में चटचट की आवाज़ सुनाई देती है) महर्षि वशिष्ठ के प्रताप से सब सैनिक मूक से हो गए हैं। किसी के हाथों में बल नहीं रहा है। रक्षा कीजिये।

दुर्दम—अच्छा, मैं चलता हूँ। चलो। (जाता है)

पटपरिवर्तन

———

तीसरा दृश्य

संध्या समय--

(युवराज सगर नगर के बाहर बन्दीगृह में अकेले बैठे हैं)

सगर—कुछ भी समझ में नहीं आता—मैं कहाँ हूँ ? यह सब क्या हो रहा है ? मुझे यहाँ किसने बन्द कर दिया ? उस दिन कुछ लड़ाई हुई थी न ! पर वह था कौन ? अजीब बात है । माता अरुन्धती कहाँ गईं ? वह मुझे मारने और प्यार करने वाली स्त्री कौन थी ? उसके एक प्यार में, उसके एक ही चुम्बन में मेरा विश्व-सिहर-सा उठा था । कैसा था वह सुख ! परन्तु उसके क्रोध में जैसे अन्धकार का सागर विष की लहरें उगल रहा था । वह कौन थी ? (सोचकर) मुझे यहाँ किसने बन्द किया है उसी ने उसी ने तो ! नहीं, मैं बन्द नहीं रहूँगा । मेरा जी न जाने कैसा हो रहा है । हटो, मैं इन सीखचों को तोड़ बाहर निकलूँगा । (जोर से जंगले को धक्का देता है । वह झंझनाने लगता है । फिर एक बार क्रोध में भर कर उसे तोड़ देता है और बाहर निकल कर) अब ठीक है । (पहरेदार का प्रवेश)

रक्षक—तुमने तोड़ा ? (आँखें फाड़कर देखता है)

सगर—हाँ, क्यों, कुछ हानि हुई क्या ?

रक्षक—तुमने कैसे तोड़ा ?

सगर—(एक लोहे की सलाँक और खींचकर) ऐसे ! (पहरेदार भाग जाता है)

(बर्हि का प्रवेश) तुम कौन ओहो, तुम यहाँ कैसे आगई ?

बर्हि—(उसकी ओर घूरकर) मुझे कौन रोक सकता है ? (सामने देख कर) हैं (सगर से) यह तुमने तोड़ा ?

सगर—क्यों, यह कोई कठिन बात है क्या ?

बर्हि—(दौड़ कर) उसका आलिंगन करती है। बेटा, सूर्य-वंशियों के लिये कुछ भी कठिन नहीं है। (इतने में त्रिपुर दीवार लाँघकर कूद पड़ता है और सामने बर्हि को देख कर सटपटा जाता है) नहीं, नहीं त्रिपुर, घबराओ मत ! तुम किसी तरह युवराज को यहाँ से निकाल ले जाओ ! फिर मैं देख लूँगी !

त्रिपुर—सृष्टि बड़ी विचित्र है। आश्चर्य !

बर्हि—त्रिपुर घबराने, आश्चर्य की कोई बात नहीं। मैं इसकी माता हूँ। जाओ, युवराज की रक्षा करो, अभी सैनिक आते होंगे।

त्रिपुर—(प्रणाम करके) जो आज्ञा।

सगर—माता, (बर्हि से जाते हुए) तुम मेरी माता हो ! (जाता है)

(त्रिपुर सगर को लेकर दीवार लाँघकर चला जाता है। सैनिकों के साथ दुर्दम का प्रवेश)

दुर्दम—कहाँ है, कहाँ है ? (सामने बर्हि को देख) तुम !

बर्हि—(अकड़ कर) हाँ मैं !

दुर्दम—सगर कहाँ है बता ?

बर्हि—मूर्ख ! (एक तलवार लेकर उसकी तरफ़ दौड़ती है)

दुर्दम—(पीछे हट कर) तू भी तो सगर को मारना चाहती है ?

बर्हि—चुप रह कुत्ते ! मै मारना चाहती थी ? हाँ मै मारना चाहती थी । मै क्या चाहती थी, यह मुझे नहीं मालूम । (पागल सी होकर जाने लगती है)

दुर्दम—कहाँ जाती है ? (सैनिकों से) पकड़ो, इस औरत को ।

बर्हि—मुझे पकड़ेगा ? हाहा, हाहा, पकड़ ले, हाहा, हाहा (हँसती है) मुझे, मुझे, तेरा इतना साहस दुष्ट !

दुर्दम—(सैनिकों से) पकड़ो ।

(सैनिक पराभूत से हो जाते है और अन्त मे बर्हि को पकड़ लेते है)

पकड़ो ! पकड़ लो !! (इतने मे युवराज सगर त्रिपुर कुछ लोगों के साथ उधर से आ जाते है, भयंकर युद्ध होने लगता है । सगर के एक बाण से दुर्दम गिर जाता है, सैनिक भागने लगते है । सगर और त्रिपुर देखते हैं कि बर्हि वहाँ नहीं है । सगर के कुछ सैनिकों द्वारा दुर्दम बाँध लिया जाता है)

सगर—माता कहाँ है ?

त्रिपुर—अभी तो यहीं थीं ।

सगर—चलो मैं माता से मिलूँगा ।

(इतने में दुर्दम संज्ञा प्राप्त कर लेता है, अपने को बँधा हुआ देखकर)

दुर्दम—हैं, मुझे किसने बाँधा ? (त्रिपुर से) तू कृतघ्न !

त्रिपुर—मैं कृतघ्न नहीं। तुम ही अन्यायी हो, तुम्हें अन्याय का फल मिला।

दुर्दम—मुझे खोल दो।

सगर—बड़ा बहादुर। हाहा हाहा। (अपने साथियों से) इसे पकड़ कर ले चलो। (नेपथ्य में दुर्दम की सेना के कुछ लोगों का प्रजा से युद्ध सुनाई देता है। मारो, काटो की ध्वनि से आकाश गूँजने लगता है) हैं, यह क्या!

त्रिपुर—बाहर युद्ध हो रहा है।

दुर्दम—युद्ध हो रहा है? यदि कहीं मैं एक बार...। पापी कृतघ्न! (रस्सियाँ तोड़ने लगता है, लोग पकड़ लेते हैं, फिर भी वह छूट जाता है। सगर से दुर्दम का युद्ध होता है और वशिष्ठ के प्रभाव से युद्ध में फिर दुर्दम हार जाता है और पकड़ लिया जाता है)

सगर—अब।

दुर्दम—विद्रोह!

सगर—ऐसे मनुष्यों के लिये केवल एक ही द्वार खुला है और वह है विद्रोह! विद्रोह से जीतने वाले कभी विजयी नहीं हो सकते। इसे बन्दीगृह में डाल दो! (सब बांध कर ले जाते हैं) दुर्दम!

पटपरिवर्तन

चौथा दृश्य

(माहिष्मती के बन्दीगृह में विशालाक्षी। पहरेदार औरत उसके पास बैठी है)

विशालाक्षी—(आह भर कर) न जाने अभी कितने दिन ऐसा रहेगा। कितने दिनों तक...!

स्त्री—बहुत दिन नहीं रानी। हा, मुझे क्या हो गया? उस दिन से ही मैं जैसे सब कुछ भूलकर तुम्हारी दासी हो गई हूँ। दिन रात मुझे चिन्ता रहती है। तुम से कुछ मोह जैसा हो गया है।

विशालाक्षी—तू बड़ी अच्छी है, पर मुझे न जाने आज कैसा लग रहा है? हृदय मानों उछल रहा है, अंग अंग में फुरफुरी हो रही है। यह क्या है तू बता सकती है? अरी यह क्या हो रहा है? बाँई आँख क्यों फड़क रही है?

स्त्री—शुभ शकुन है रानी! तुम्हारा बच्चा···।

विशालाक्षी—बच्चा, मेरा लाल, मेरी आखों की पुतली! हा, वह न जाने कहाँ होगा! न जाने उसे कौन ले गया? (साँस भरकर) हा, मैंने कितने आँसू की लड़ियाँ उसे पहनाने के लिये तैयार कीं, पर वह तो बड़ा निठुर है। भयंकर आँधी में, तूफ़ानी

लहरों में, बादलों की गर्जना में मैंने उसे ढूँढा। पर·········।
(चुप हो जाती है)

स्त्री—(आँसू भरकर) रोओ मत रानी, वह मिलेगा। वह अवश्य मिलेगा। हाय, मेरे भी एक था!

विशालाक्षी—क्या तेरे लड़का था?

स्त्री—(आह भरकर) था एक, मोती की तरह साफ़, बड़ा मोटा। उसकी आँखें तो जैसे सदा ही मेरी ओर देखा करती हैं। उस समय मेरे सपने खुशी से नाचा करते थे। क्या वह अब कभी···।
(रोने लगती है)

विशालाक्षी—तू रोती है बहन!

स्त्री—रोऊँ क्यों न रानी, क्या अब रोऊँ भी नहीं? अब रोना ही तो है। एक दिन सवेरे ही सब समाप्त हो गया। रात आकर उसके मुँह पर कालोंच पोत गई। सवेरे का प्रकाश उसके नीले बदन पर चमचमा रहा था। पर वह तो उस समय भी हँस रहा था!

(गुरु वशिष्ठ, युवराज, त्रिपुर, और कुन्त का प्रवेश)

त्रिपुर—(सामने देखकर) यही हैं आप की माता महारानी विशालाक्षी।

विशालाक्षी—(चौंककर) सगर, इतना बड़ा! मेरी आँखों का तारा!
(विशालाक्षी चौकन्नी सी होकर खड़ी हो जाती है और सगर की ओर देखने लगती है, एक दम 'हा पुत्र' कहकर मूर्च्छित होकर गिरने लगती है। पहरेदार स्त्री उसे संभाल लेती है, सगर 'हा माता' कहकर माता के पैरों पर गिर पड़ता है)

पटपरिवर्तन

पाँचवाँ दृश्य

(राजा दुर्दम अयोध्या के बन्दीगृह में अकेला है, हाथ पैर में लोहे की शृंखलाएँ पड़ी हैं, उदास मुख बैठा है)

दुर्दम—दूसरे के देश को जीतना सहज है किन्तु उसके हृदय को जीतना कठिन। देश प्रेम, राज्य प्रेम की आग को सहस्रों यत्न करके भी बुझाया नहीं जा सकता। समय पाते ही वह ज्वालामुखी की तरह फूट पड़ती है। उसके दबाने के अनन्त उपाय उल्टे और घातक सिद्ध होते हैं। मेरे प्रयत्नों से उस ज्वालामुखी के फटने में उत्तेजना मिली। मेरे सब प्रयत्न, सारी चेष्टाएँ विफल सिद्ध हुईं। यह मैंने क्या किया! अब क्या हो सकता है? यत्न करके भी मैं सगर को न पीस डाल सका, बर्हि को न मार सका, विशालाक्षी को समाप्त न कर सका। मैंने बड़ी भूल की, बड़ी भूल की!

(कुछ सैनिकों का बन्दीगृह में प्रवेश दुर्दम को देखकर)

एक सैनिक—यही राजा दुर्दम है।

दूसरा सैनिक—अयोध्या के माल पर दण्ड पेलनेवाला दुर्दम!

तीसरा सैनिक—राज्य का स्वप्न देखनेवाला दुर्दम!

एक सैनिक—देखो, देखो इसकी आँखों की पुतलियों में राज्य-च्छत्र चमक रहा है।

दूसरा सैनिक—क्रोध के कारण इसके सब दाँत एक दूसरे को पीसे डालते हैं। देखा तुमने ?

तीसरा सैनिक—(निकट जाकर) तुम्हारा नाम दुर्दम है न ?

दूसरा सैनिक—इतने दिनों तक अयोध्या के माल पर हाथ साफ़ करनेवाले बन्दी ! क्रोध आ रहा है क्या मित्र ! (उधर से त्रिपुण्ड्रक आदि लोग आगे आते हैं, दुर्दम को देखकर)

त्रिपुण्ड्रक—धर्म की सदा विजय होती है दुर्दम ! आज तुम्हें अपने किये का फल भोगना पड़ा।

दुर्दम—राजनीति के नाटक में हार और जीत ये दो ही तो दृश्य हैं त्रिपुण्ड्रक !

त्रिपुण्ड्रक—किन्तु दूसरे की विभूतियाँ देखकर अपने कपड़े फाड़नेवालों की यही दशा होती है।

दुर्दम—कोई विभूति किसी की बपौती नहीं है, विभूतियाँ मनुष्य की शक्ति का एक छोटा सा प्रकाश है। आज तुम मुझ पर हँस रहे हो किन्तु उस दिन.........?

त्रिपुण्ड्रक—उस दिन भी, किन्तु आज तुम्हारी दशा देखकर मुझे हँसी आरही है यही कि तुम कितने अज्ञानी हो ?

दुर्दम—मैं यह सब तनिक भी नहीं सुनना चाहता।

त्रिपुण्ड्रक—मनुष्य, तूने गर्व और शक्ति के शिखर पर खड़े होकर मनुष्यता को ललकारा, उसे पीस डालने के लिये अपने भारी भारी पाँवों को जमीन पर पटका, किन्तु क्या तू नहीं जानता एक ही

आँधी का झोंका शिखर के गर्व पर हँसता हुआ छोटा-सा ढेला, बिजली का एक धीमा हास, पृथ्वी की एक करवट तुझे ढकेल कर अस्तित्व-हीन कर देने के लिये पर्याप्त है।

दुर्दम—इतने पर भी संसार से गर्व का नाश तो नहीं हो गया ! रोज़ लोगों को मरते हुए देखकर भी आकाश को चूमनेवाले मकानों की संख्या में कुछ भी कमी नहीं होती। वैभव की गुरुता, जीवन का माहात्म्य, यौवन का अदमनीय उल्लास और प्राणों का अभिमान कम तो नहीं होता ? चन्द्रमा अमावस्या की रात में अँधेरी के कलंक में अपने को छिपा लेता है, किन्तु पूर्णिमा आते ही वह अमिताभ विलास करने में ज़रा भी संकोच नहीं करता। ध्रुव दिन में छिप जाने पर भी ध्रुव ही है। तुमने इतने दिनों तक यह जान कर भी कुछ न जाना। आज नहीं तो कल...फिर...त्रिपुण्ड्रक !

त्रिपुण्ड्रक—अँधेरे में सन्तोष को ढूँढ निकालने का यही मार्ग है। जब रोकर आँखें सूज जाती हैं तब उदासी आती है, उसके बाद बोलने की इच्छा, तदनन्तर हँसी। अब भी सँभल जाओ और युवराज से क्षमा माँग वैखानस बन कर शान्ति लाभ करो !

दुर्दम—जो लोग स्वयं दौड़ कर नहीं चल सकते वे दूसरों को दौड़ते देख दौड़ने की घोर हानियों का उपदेश करते हैं। तुम जाओ, मेरा मार्ग.........। (अभिमान मुद्रा से रुक जाता है)

त्रिपुण्ड्रक—भाग्य-हीन ! (सब चले जाते हैं)

पटाक्षेप

छठा दृश्य

बन्दीगृह के बाहर—

(सगर, वशिष्ठ तथा प्रधान कर्मचारी खड़े हैं, नेपथ्य में एकदम कोला-हल सुनाई देने लगता है)

सगर—यह कैसा कोलाहल है गुरुवर ?

वशिष्ठ—बेटा, तुम्हारे विजय पर नागरिक लोग प्रसन्न हो रहे हैं यह उसी आनन्द का आकाश को फोड़नेवाला स्वर है, चलो न !

मंत्री—चलिये युवराज, ग्रहण के उपरान्त निकले हुए चन्द्र की तरह प्रजा आपके दर्शनों को उतावली हो रही है, चलिये ।

सगर—(ठिठक कर) चलूँ (सोचकर) मैं नहीं चलूँगा । अभी मुझे बहुत काम है । गुरुवर, आपने तथा प्रजा ने सूर्यवंश और प्यारी अयोध्या के लिये जो त्याग किया है, तदर्थ मैं आपका कृतज्ञ हूँ । मुझे ज्ञात नहीं मैं किन अवस्थाओं में रहा किन्तु मुझे विश्वास है, यदि उसमें आपकी और प्रजा की सदिच्छा न होती तो मेरी और इस वंश की क्या अवस्था होती !

वशिष्ठ—यह हमारा कर्तव्य था । तपस्वियों का जीवन केवल आत्म-साधना ही नहीं, समाज की रक्षा भी है । जिस दिन हम लोग समाज सेवा के कर्तव्य से पतित हो जाँयगे उस दिन इस भारतीय जाति

का गौरव लुप्त हो जायगा। समाज के बल पर ही मनुष्यत्व की साधना सम्भव है। जिस तरह इच्छा, रुचि, भावना, प्रेरणा, अनुभूति, कर्तव्य और ज्ञान के आधार समूह का नाम प्राण है, जीवन है; उसी तरह शान्ति, सुख, उन्नति, अधिकार, नियम के आधार भूत समूह का नाम समाज है, जिसमें देश का प्राण हँसता है। चलो बेटा, शत्रु पूर्ण रूप से परास्त हो गया है, अब तुम्हारा अभिषेक होना चाहिये।

सगर—गुरुवर, राजा प्रजा की रक्षा के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। वह केवल प्रजा का मूर्त-स्वर है इसलिये राजा बनने से पूर्व मैंने निश्चय किया है कि मैं प्रजा में शान्ति स्थापित करूँ। इस समय सम्पूर्ण भारत में त्राहि त्राहि मची है। हैहय वंशियों, शकों ,यवनों, पारदों और पहलवों ने देश की शान्ति को नष्ट कर दिया है। ऐसी अवस्था में मेरा कर्तव्य है कि मैं राज्य प्राप्ति से पहले प्रजा में शान्ति स्थापना की परीक्षा दे लूँ। मैं आज वही करने चला हूँ गुरुवर !

वशिष्ठ—बेटा, तुम धन्य हो।

सगर—मैंने प्रतिज्ञा की है, जब तक सम्पूर्ण देश के शत्रुओं, अत्याचारियों को पराजित न कर लूँगा तब तक अयोध्या में पैर न रक्खूँगा। मेरे कानों में पिता की पीड़ा, शत्रु के अत्याचार, देश के दुख गूँज रहे हैं। अभी उनका परिशोध करना बाकी है। मैं दिग्विजय करके ही अपने को राज्य का अधिकारी समझता हूँ। राजा विलास की वस्तु नहीं है वह साधारण मनुष्यों में से ही एक

समझदार प्राणी है। उसका मार्ग अपने लिये वैभव ठुकरा कर प्रजा के लिये उसे सुरक्षित रखना है। प्रजा का सुख उसका सुख है और प्रजा की शान्ति है उसकी आत्मा की प्रसन्नता। वह बादलों की एक घटा है, जो प्रकृति रूप प्रजा को प्रसन्न करने और उसे जीवन देने के लिये आकाश से भूतल पर उतरी है इतने पर भी वह प्रकृति से भिन्न है। मुझे आज्ञा दीजिये गुरुवर !

वशिष्ठ—पुत्र, तुम सूर्यवंश के रत्न हो।

(विशालाक्षी का प्रवेश, सब लोग झुककर प्रणाम करते हैं)

विशालाक्षी—(गद्गद होकर) गुरुवर ! (प्रणाम करती है)

वशिष्ठ—राजमाता ! (आशीर्वाद देते हैं, सेनापति का प्रवेश)

सेनापति—(सगर से) दुर्दम के लिये... ।

सगर—(दुर्दम का ध्यान आते ही मंत्री से) इसको गुरुवर जो आज्ञा दें, वही दण्ड दिया जाय।

वशिष्ठ—इसको बन्दीगृह में जीता रहकर प्रायश्चित करने दीजिये। यही इसके पापों की सज़ा है। त्रिपुर कहाँ है ? (त्रिपुर दौड़ता हुआ आता है) रानी बर्हि का कुछ पता लगा ?

सगर—हाँ, माता का क्या समाचार है ?

त्रिपुर—(आँखों में आँसू भरकर) महाराज, रानी ने शरीर त्याग दिया, वे नदी में डूबकर मर गईं।

वशिष्ठ—कैसे कैसे, त्रिपुर !

त्रिपुर—दुर्दम के साथ युद्ध करने के बाद जैसे ही मैं युवराज को आपके पास छोड़कर रानी की खोज में निकला वैसे ही मैंने सरयू के उस पार उनके शव को कुछ ग्वालों से घिरा देखा। पूछने पर ज्ञात हुआ कि रानी थोड़ी देर पूर्व यहाँ आईं और प्रलाप करती हुई सरयू में कूद पड़ीं। ग्वालों ने उन्हें निकाला पर उस समय उनका प्राण पखेरू उड़ चुका था।

सगर—हा माता !

त्रिपुर—मैं उनमें से एक आदमी को अपने साथ ले आया हूँ। वही आपको सब सुना देगा। (वह आदमी झुककर प्रणाम करता है)

आगन्तुक—महाराज, वह बहुत कुछ कहती रही। हमने समझा कोई स्त्री है इसीलिये कौतुक वश हम लोग उन्हें घेरकर खड़े हो गए। वे कह रही थीं—"नीले आकाश, तुम रंग बदल कर भी नीले ही रहते हो। किन्तु मैं बहुत दूर बढ़ आई हूँ। जीवन के इतिहास में मैंने घृणा को अपनाया। षड्यंत्र की सीढ़ियों पर चढ़कर प्रतिहिंसा की आग में झुलस कर भी मैं सफल न हो पाई। मेरी आहों के कँगूरे उठ उठकर गिर पड़े। मेरे विश्वास निराशा की चट्टानों से टकराकर कई बार चूर हुए। अब मुझे कुछ भी देखना नहीं है। मुझे दिन में भी अँधेरा दिखाई दे रहा है। मेरी आहों की बदलियों में जल नहीं हैं जो एक बार इस सम्पूर्ण विश्व को डुबो सकें। मेरे जीवन के बीहड वन में रास्ता नहीं है। मेरे आँसुओं में बल नहीं,

मेरे प्राणों में कम्पन नहीं, मेरे हृदय में उत्तेजना नहीं, मेरे कण्ठ में स्वर नहीं, मेरी बुद्धि में विकास नहीं। मैं मूढ़ हूँ, मैं हीन हूँ। मैं तिनका हूँ जो कुचला गया, जो पानी की धार में बह गया। अब निराशा के जहाज़ पर चढ़कर घोर अँधेरे की ओर चलना भर बाक़ी रह गया है। मैं लौट नहीं सकती। नहीं, सगर मेरा कोई नहीं! विशालाक्षी मेरी कोई नहीं! कहीं भी मेरा कोई नहीं!" इसी प्रकार कहती हुई वह नदी में कूद पड़ी। हम लोग कुछ न समझ पाये। उ उ समय भी हम तमाशा समझ कर देखते रहे। किन्तु हमने देखा कि वे तड़प कर मर रही थीं। तब उस वेगवाली नदी में कूदे और बड़ी कठिनता से उनके शरीर को निकाला। किन्तु उस समय उनका प्राण निकल चुका था।

विशालाक्षी—हा बहन! (मूर्छित होकर गिर पड़ती है, लोग उठा कर एक तरफ़ ले जाते हैं)

सगर—बड़ा दुख है! (वशिष्ठ से) गुरुवर, यह क्या बात है, मैं तो कुछ भी जान नहीं पाया! (आँखों में आँसू भर आते हैं)

वशिष्ठ—विधाता का विधान और कुछ नहीं।

(सब लोग शोक में डूबे रह जाते हैं)

पटाक्षेप

सातवाँ दृश्य

सायंकाल—

(रानी विशालाक्षी मूर्छित अवस्था में पड़ी है । मंत्री, वशिष्ठ, अरुन्धती, वैद्य तथा अन्य कर्मचारी पास बैठे है)

मंत्री—कैसी अवस्था है वैद्यवर !

वैद्य—जैसी इस समय रोगी की होती है । सन्निपात है, भयानक आक्रमण !

वशिष्ठ—औषध से भी क्या... ।

वैद्य—आन्तरिक पीड़ा के वेग के कारण औषध भी अपना पूरा प्रभाव नहीं दिखा पाती । देखो कदाचित् अभी मूर्छा टूटती है ।

अरुन्धती—(दोनों हाथ मलकर) हा भगवान् !

मंत्री—युवराज भी तो नहीं हैं कदाचित् उनके होने से रोग का वेग कुछ कम हो जाता ।

वैद्य—युवराज ही रानी को सान्त्वना दे सकते हैं । (रानी की आकृति देखते रहते है) अब दूर नहीं । इस वार की मूर्छा टूटने पर या तो रानी बच ही जाँयगी ।

वशिष्ठ—मंत्री, क्या तुम बता सकते हो युवराज के लौटने में कितनी देर है !

मंत्री—महाराज, युवराज पूर्वीय देशों को जीतकर सीधे अयोध्या लौट रहे हैं। उन्होंने इस समय आसाम तक के देशों पर सूर्यवंश की यशोध्वजा फहरा दी है। वे इस समय यहाँ से लगभग छः सात सौ कोस की दूरी पर हैं।

अरुन्धती—-उन्हें बुलाना होगा। विशालाक्षी की प्राणरक्षा के लिये उन्हें बुलाना ही होगा। बुलाओ मंत्री!

वैद्य—परन्तु उन्हें तो मूर्च्छा टूटने से पहले आजाना चाहिये! यदि इस समय प्रलाप प्रारम्भ कर दिया तो...।

मंत्री—-तो क्या! (आश्चर्य से)

अरुन्धती—तो क्या! (हैरान होकर)

वशिष्ठ—तो क्या! (जिज्ञासा से)

वैद्य—(रोगी को देखने लगता है)

मंत्री—परन्तु अब असम्भव है!

अरुन्धती—क्या!

वैद्य—(रोगी की ओर देखते हुए नाड़ी पकड़ कर) उपाय...।

वशिष्ठ—जीवन!

(रोगिणी को धीरे धीरे चेतना लाभ करती देखकर)

वैद्य—बिलकुल चुपचाप!

विशालाक्षी—(एकदम आँख खोल देती है, हाथ पैर मार कर) हा, मैं कहाँ हूँ, यह सब क्या है! जीवन एक बुलबुले की तरह, फेन की तरह।

वैद्य—चुप रहो रानी !

मंत्री—बोलिये नहीं ।

अरुन्धती—घबराने से कैसे काम चलेगा !

विशालाक्षी—सगर कहाँ है ! बेटा सगर, बर्हि, तुम क्या देख रही हो ? आकाश के पर्दों से झाँककर मत देखो, यों मत घूरो... आँखें फाड़कर । (आँख बन्द कर लेती है) हिमालय के समान अचल, स्निग्ध, धवल महाराज आप क्या कह रहे हैं ? बर्हि को गोद में लिये क्यों बैठे हो ! सगर... ।

वैद्य—सब समाप्त । कोई आशा नहीं ।

अरुन्धती—हाय !

विशालाक्षी—'हाय' किसने कहा ! (आँख खोल कर) कैसा लगता है तुम्हें ! मैं पागल, ओस की बूँद की तरह स्नेह के कोमल किशलय से ढली जा रही हूँ, हृदय के आँसू की तरह गिरी जा रही हूँ । सगर ! बेटा सगर, तुम कहाँ हो ! अच्छा, समझी...दिग्विजय करने । जाओ, मैं भी महाराज के पास जा रही हूँ । महाराज के पास । स्नेह की मूर्ति के पास । जाओ । बर्हि, मैं तुम्हारे लिये कंटक बनी । देखो मत, इधर मत देखो । मेरा संसार काला हो गया है, निराशा के तुल्य काला; स्वप्न की तरह क्षणभंगुर । मुझे तुमने विष दिया था । लाओ और लाओ । इस बार कोई आपत्ति न करूँगी । लाओ...देर...(हाथ बढ़ाने लगती है किन्तु हाथ गिर जाता है)

जीवन में मैंने दुख का विष पिया, मोह का विष पिया, अज्ञान का विष पिया, मूर्खता...का...पिया । लाओ और...सही (दम तोड़ने लगती है)

वैद्य—(दवा निकाल कर देने लगता है) देखूँ शायद ।

विशालाक्षी—नहीं, अब नहीं । और नहीं जाने दो ।

वैद्य—(कुछ सोचकर) लाभहीन ।

विशालाक्षी—लाभहीन, जीवन लाभहीन, मरण लाभहीन । सब लाभहीन (दम तोड़ने लगती है) हे महा...रा... ।

(प्राण उड़ जाते हैं, सब लोग आँखों में आँसू भर कर देखते रहते हैं)

पटपरिवर्तन

———

आठवाँ दृश्य

सायंकाल का समय—

(युवराज सगर दिग्विजय करके लौटते हुए शिविर के बाहर मैदान में टहल रहे हैं, बसन्त खिल रहा है)

सगर—आज मैं सम्पूर्ण द्वीप को जीतकर लौट रहा हूँ। आज माता की इच्छा पूर्ण होगी। आशा के समान विशाल इस आर्यावर्त में अब सुख, शान्ति और समृद्धि का साम्राज्य है। मेरे क्रोध से, मेरी हुंकार से, मेरे कवच के झनझनाते ही, मेरे तूणीर के चटचटाते ही विश्व के कलह मानों शरच्चन्द्र की धवलिमा में बदल गये हैं। मेरे दिग्विजय के उपलक्ष्य में ऋतुराज एक नवीन आभा, नवीन प्रणय, नवीन मकरन्द की वृष्टि कर रहा है। पुष्पों की स्मय-राशि कर्तव्य के समान उज्ज्वल हो उठी है। द्रुमों की गोद में सम्पूर्ण आत्म-समर्पण की तरह लताएँ तरु-किशलयों के, कलिका के मुख खोलकर अपना यौवनमद पिला रही हैं। आहा, कितना सौन्दर्य है इस प्रकृति में! कितना विलास है इस उल्लास में! सूर्य की एक एक किरण शिक्षिका की तरह कलियों को हँसना सिखा रही है। माता, यह तुम्हारे ही चरणों का प्रताप है कि मैं दिग्विजय करके लौट रहा हूँ।

(सेनापति त्रिपुर का प्रवेश)

त्रिपुर—(प्रणाम करके) जय हो युवराज की।

सगर—कहो सेनापति, अयोध्या पहुँचने में अब कितनी देर है?

त्रिपुर—एक पड़ाव ही तो युवराज!

सगर—केवल, मैं माता के दर्शन करना चाहता हूँ। आहा, सम्पूर्ण विश्व के प्रेम की मूर्त प्रतिमा!

त्रिपुर—हम लोग अयोध्या के निकट ही हैं।

सगर—भला, इसके अनन्तर क्या होगा!

त्रिपुर—श्रीमान् का राज्याभिषेक। हाँ, मैं भूल गया था, गुरुवर वशिष्ठ ने हम लोगों को जल्दी ही अयोध्या लौटने की आज्ञा भेजी है। देश-देशान्तरों के राजाओं को अभिषेक का निमंत्रण भेजना है! यही सूचना देने······।

सगर—निमंत्रण, निमंत्रण कैसा!

त्रिपुर—युवराज, राज्याभिषेक सबसे महान् कार्य है। अधीनस्थ राजा लोग अपनी भेट लेकर आपको अर्पित करेंगे, सिंहासन के गौरव की रक्षा करते हुए अपनी श्रद्धाञ्जलि चढ़ाना ही तो···।

सगर—तो क्या राजा का पद बहुत ऊँचा है?

त्रिपुर—बहुत ऊँचा युवराज। राजा ईश्वर के समान है। ईश्वर ने आपको राजा बनाया है। इस समय आप प्रजा के धर्म, कर्म, सुख, शान्ति, न्याय के उत्तरदायी हैं। इसीलिये युवराज!

सगर—परन्तु वह तो कोई भी हो सकता है जिसमें क्षमता हो, सामर्थ्य हो, विवेक हो, सद्भावना हो।

त्रिपुर—(आश्चर्य से) युवराज, इससे आगे मैंने कभी नहीं सोचा। इतनी दूर मैं कभी गया भी नहीं।

सगर—नीति और संसार क्या कहता है ?

त्रिपुर—यह भी नहीं सुना !

सगर—और विवेक ?

त्रिपुर—उससे मेरा सम्बन्ध ही नहीं रहा। मैं तो क्षत्रिय हूँ, जो ब्राह्मण की महिमा की, ऋषियों के गौरव की, क्षत्रियत्व के अभिमान की रक्षा करना जानता है। और जानता है, शत्रु को पीस डालना युवराज ! जीवन में और कुछ सोचना सीखा ही नहीं। एक बार, केवल एक बार मैंने न्याय अन्याय को परखा था। पर···।

सगर—क्या तुम बता सकोगे, पूज्य पिता राजा दुर्दम से क्यों हार गए ?

त्रिपुर—अपने भोलेपन से। (पीठ फेर कर खड़ा हो जाता है, सगर दूसरी ओर देखने लगता है)

(कुन्त का प्रवेश, प्रणाम करता हुआ आँखों में जल भरके खड़ा हो जाता है)

सगर—तुम कौन हो, कहाँ से आये हो, मैंने तुम्हें कहीं देखा है ?

त्रिपुर—(एकदम पीठ फेरकर) हैं कुन्त, भाई कुन्त, तुम कहाँ !

कुन्त—(प्रणाम करके) एक समाचार···।

सगर—क्या बात है !

कुन्त—(आँसू पोंछता हुआ) मंत्री जी ने मुझे भेजा है। कहा, आप यहीं होंगे ! दुखद समाचार है युवराज !

दोनों—(घबराकर) क्या, कहो !

कुन्त—राजमाता का स्वर्गवास······।

सगर—कैसे, कैसे ! हा माता !

त्रिपुर—(रुआँसा सा होकर) क्या हुआ ?

कुन्त—महारानी विशालाक्षी रानी बर्हि की मृत्यु के बाद से दुखित रहती थीं।

सगर—मैं दिग्विजय की खुशी से उन्हें नीरोग करना चाहता था।

कुन्त—धीरे धीरे उनकी मूर्छा बढ़ने लगी और अन्त में वे जब तब मूर्च्छित होने लगीं। बड़े उपाय किये, कई वैद्यों का उपचार कराया। परन्तु······।

त्रिपुर—कुछ भी लाभ न हुआ ?

कुन्त—जी। दुर्दम भी बन्दी-गृह में मर गया। अन्त समय में वह पागल हो गया था। दिन रात पश्चाताप के आँसू बहाता रहता था। पापों का इतना भयंकर अन्त होता है यह किसी ने नहीं जाना था।

त्रिपुर—(सोचकर) दुर्दम को अपने किये का फल भोगना पड़ा।

रानी बर्हि की मृत्यु ने महारानी का हृदय तोड़ दिया। हा, महारानी को आजीवन कष्ट भोगने पड़े।

सगर—हा, मैं संसार में पितृ-विहीन उत्पन्न हुआ। मिथ्या की तरह आश्रयहीन, छाया-कंकाल की तरह मातृ-हीन होकर पोषित हुआ! मैंने क्या देखा इस जगत में प्रकाशहीन बन्दीगृह, नदी के रूप में मुँह फाड़े हुए मृत्यु के विकराल दाँत, ममता-हीन विमाता, नहीं ऐसा न कहूँगा। वह स्नेह की मूर्ति मुझे भूल नहीं सकती। एक ही आश्रय था मेरे स्नेह का, एक ही स्रोत था मेरे उल्लास का, एक ही मूर्ति थी मेरी साधना की। हा माता! त्रिपुर, अब मैं अयोध्या न लौटूँगा। वनों में घूमूँगा, नदियों के तट पर निराशा लेकर, टूटा हुआ हृदय लेकर, धुँधले प्राण लेकर, दलित अभिलाषायें लेकर विचरूँगा, मैं अयोध्या न जाऊँगा।

कुन्त—गुरुवर वशिष्ठ देवी अरुन्धती के साथ तीर्थ यात्रा को चले गये हैं। रानी की मृत्यु से वे अत्यन्त खिन्न हो गये थे।

सगर—अब मैं अयोध्या न जाऊँगा त्रिपुर, न जाऊँगा। मेरा वहाँ कोई नहीं रहा। एक माता थी—हृदय का आश्रय, दुख का सहारा, प्राणों का धीरज वह भी न रही। माता नहीं, गुरु वशिष्ठ नहीं, मुझे पालनेवाली देवी अरुन्धती नहीं, अब मैं लौटकर क्या करूँगा? तुम जाओ, प्रजा की रक्षा करो। कब लौटूँगा मालूम नहीं, कहाँ जाऊँगा नहीं मालूम?

त्रिपुर—युवराज, यह आप क्या कह रहे हैं ?

कुन्त—महाराज !

सगर—नहीं, कुछ नहीं, हृदय टूट गया है । चाहता हूँ जी भर कर रोऊँ। इस विशाल मैदान को, ऊँचे पर्वतों को, महासमुद्र को, भूचुम्बी सूर्य को माता के अश्रु-तर्पण के जल में डुबो दूँ । तुम जाओ । (एकदम वेग से चले जाते हैं, त्रिपुर और कुन्त निस्तब्ध से खड़े रह जाते हैं)

कुन्त—यह क्या हुआ !

त्रिपुर—(उत्तेजित होकर) नहीं जाना था कि पर्वतों की चट्टानें भी पानी पड़ते ही बालू की तरह बैठ जायँगी। समुद्र का प्रकाश-स्तम्भ नदी का एक झोंका भी न सहार सकेगा ?

कुन्त—अर्थात् ?

(सगर एकदम लौट कर)

सगर—(चौंक कर दुहराते हुए) नहीं जाना था कि पर्वतों की चट्टानें भी पानी पड़ते ही बालू की तरह बैठ जायँगी, समुद्र का प्रकाश-स्तम्भ नदी का एक झोंका भी न सहार सकेगा ? क्या मातृ-प्रेम और मातृ-वियोग कोई भी चीज़ नहीं है त्रिपुर !

त्रिपुर—(प्रसन्नता दबाकर उसी आवेग में) जीवन एक संग्राम है । कर्त्तव्य की जागरूकता उस संग्राम की महत्ता है । व्यक्ति से समाज, समाज से राष्ट्र ऊँचा है । उस राष्ट्र के आगे व्यक्ति का, जाति का, नगर का और प्रान्त का कोई मूल्य नहीं है युवराज !

राजा का व्यक्तित्व कुछ भी नहीं है वह प्रजा की इच्छा और राष्ट्र की थाती है। राष्ट्र ही उसकी माता, उसका पिता, उसका गुरु और उसका सर्वस्व है। उसका अपनापन कुछ भी नहीं है। अभी आप के सामने महान कार्य हैं। यह सप्त-सागर पर्यन्त पृथ्वी, महान राष्ट्र और उसकी प्रबुद्धसंस्कृति करवट बदल कर आप की ओर निहार रहे हैं।

सगर—हाँ याद आ गया। मैंने भी एक बार ऐसा ही कहा था। तुम ने ठीक कहा—'जीवन एक संग्राम है। कर्त्तव्य की जागरूकता उस संग्राम की महत्ता है।' स्वर्गीय महाराज और प्रजा की छोटी सी इच्छा पूर्ण हो जाने पर मेरे कर्त्तव्य की 'इति' नहीं हो जाती। मेरे सामने कर्त्तव्य का महासागर लहरा रहा है। राष्ट्र के उनींदे प्राण मुझे पुकार रहे हैं। नहीं अब मैं कहीं न जाऊँगा। (सोच कर दुहराते हुए) नहीं जाना था कि पर्वतों की चट्टानें भी पानी पड़ते ही बालू की तरह बैठ जायँगी? ओह, मैं क्या कर रहा था? कितनी भूल थी? नहीं अब नहीं! यह सम्पूर्ण वसुमती, जिस ने मेरा लालन किया, माता विशालाक्षी की प्रतिमा बन कर मेरी ओर देख रही है। ये सरिताएँ और वे महासागर उस माँ के मन्दहास हैं, उसकी प्रतिध्वनि है, उसे अट्टहास में बदलना होगा। ये भूधर उसकी इच्छाएँ हैं उन्हें और भी ऊँचा उठाना होगा। मेरी सारी साध माँ के आँसू पोंछने को होगी। मैं माँ की धूलि मस्तक पर चढ़ा कर

प्रतिज्ञा करता हूँ कि मेरा रोम रोम उसकी सेवा को होगा।

(पृथ्वी की रज मस्तक पर चढ़ा कर मौन हो जाते हैं)

कुन्त, त्रिपुर——यही सचमुच सगर की विजय है। बोलो माँ भारती की जय, युवराज सगर की जय।

(उस जयघोष से नभ और भूधर गूँज उठते हैं और
वही प्रतिध्वनि उठती है 'माँ भारती की जय',
'युवराज सगर की जय')

पटाक्षेप

श्रीभट्ट जी के नाटकों पर कुछ सम्मतियाँ

'मत्स्यगन्धा एवं विश्वामित्र' दो भावनाट्य

......हमारी अपनी राय में तो इन दो कला और कवित्वपूर्ण रत्नों से साहित्य-मंदिर की वेदी अपने धरातल से बहुत कुछ ऊँची उठी है। विश्वास और गर्व के साथ हम इन्हें न केवल भारतीय बल्कि विश्वसाहित्य के उत्कृष्टतम काव्य एवं नाट्य-ग्रन्थों क साथ रख सकते हैं। ऐसे सुन्दर और सफल भावनाट्य हिन्दी-संसार को देने के लिये हम लेखक को साधुवाद देते हैं।...प्रसाद जी के 'एक घूंट' ने भी हमें इतना प्रभावित नहीं किया जितना इन दो भावनाट्यों ने।

दिल्ली. नवयुग १ जनवरी, १६३६.

मत्स्यगन्धा—"हिन्दी में भावनाट्य निर्माण की ओर साहित्यकारों का ध्यान कम गया है; नहीं के बराबर कहना ही उचित होगा। अतः मत्स्यगन्धा का प्रकाशन इस दृष्टि से साहित्य की ऐतिहासिक घटना कहा जा सकता है। उसमें रसपरिपाक यथास्थल सुन्दर हुआ है। शब्दों की यति और गति भावानुरूप दृश्य खींच देती है। पुस्तक में कहीं भी रचनाशैथिल्य नहीं है।...मत्स्यगन्धा में आधुनिक युग की भावनाएँ हैं। यह कवि की सब से बड़ी सफलता है।"

स्वराज्य. ६ सितम्बर, १६३८

"तक्षशिला आदि काव्य और दाहर आदि नाटक लिख कर लेखक पर्याप्त ख्याति अर्जन कर चुके हैं। परन्तु इस नाटिका में उनकी रचना-कुशलता का विशेष परिचय मिलता है...भाव-विश्लेषण की तरह इसकी भाषा भी प्रांजल है। ऐसी सफल रचना के लिये भट्ट जी विशेष बधाई के पात्र हैं।"

सरस्वती ४, ३६ प्रयाग

मत्स्यगन्धा है तो पौराणिक भावनाट्य ही, किन्तु मनस्थितियों का विश्लेषण बहुत सुन्दर है। भाषा सुन्दर है–इस भावनाट्य के अनुकूल। छन्दयुक्त, रसात्मकता विशेष रूप में पाई जाती है...। नारी के चरित्र-चित्रण में लेखक को बहुत सफलता मिली है। हमारी संस्कृति को नव नव रूप आज भट्ट जी दे रहे हैं; पुराणों द्वारा—इन दन्तकथाओं द्वारा; ठीक उसी तरह जैसा स्वर्गीय प्रसाद ने बौद्धकालीन पुरातत्त्व का अध्ययन करते हुए अपने नाटकों में किया था, इस लिये भट्ट जी को बधाई।

कमलाकान्त पाठक

योगी १० जून, १६३८, पटना

मत्स्यगन्धा—श्री उदयशंकर भट्ट इन दिनों अपने दुखान्त नाटकों द्वारा हिन्दी-साहित्य के एक रिक्त अंश की पूर्ति के लिये प्रशंसनीय प्रयत्न कर रहे हैं।...मत्स्यगन्धा एक छोटी सी घटना है, परन्तु लेखक ने इसे इस प्रकार प्रभावशाली ढंग से चित्रित कर के सचमुच कमाल किया है। प्रारम्भ से लेकर अन्त तक यह नाट्य (रूपक) इतनी शिष्ट, संस्कृत, सरल, सुबोध एवं प्रवाही भाषा में लिखा गया है कि पढ़ना आरम्भ करने के बाद अबाध गति से समाप्ति पर ही पाठ-धारा रुकती है। ऐसा अनुभव होता है मानों सम्पूर्ण घटना हमारी आँखों के सामने ही घटित हो रही है। इस कथानक में कोई प्रसंग ऐसा नहीं जो आकर्षक न हो। हम इसे हिन्दी के उच्च कोटि के साहित्य में स्थान देने का प्रबल अनुरोध करते हैं।

हंस, कहानी (दोनों में)

काशी,

In 'Matsyagandha' Pandit Uday Shankar Bhatt has given to the Hindi World a play of great beauty

and enduring charm. For its imagery, daring use of mythological symbols, careful fusion of emotion with ......and arresting rhythm the play will occupy a unique place in Hindi Literature...........nevertheless Mr. Bhatt's Matsyagandha, apart from its literary treat, will be found thoroughly entertaining and instructive. **The Tribune, Lahore.**

Feb. 13. 1938.

विश्वामित्र—आप हिन्दी में नये साहित्य की सृष्टि कर रहे हैं! इस क्षेत्र में आप अकेले हैं, मैं हृदय से आपका अभिनन्दन करता हूँ।

२१. ६. ३८ विनयमोहन शर्म्मा

एम. ए., एल. एल. बी., खण्डवा

विश्वामित्र—आप प्राचीन उपेक्षित को च्यवनप्राश द्वारा जो नवीन बना रहे हैं, उस के लिये हिन्दी साहित्य आपका ऋणी रहेगा। विश्वामित्र सचमुच बहुत सुन्दर रचना है।

चिरगांव, झाँसी २३. ८. ३६. मैथिलीशरण गुप्त

सगर विजय—I have gone through this drama (सगर-विजय) with greatest interest. It is undoubtedly of high literary merits and I consider the book quite suitable for our colleges.

Baldev Prasad Mishra B. A.

Dewan, Raigarh.

"सगर-विजय मत्स्यगन्धा के लिये अनेक धन्यवाद।...इस छोटे से नाटक में आपको इस ओर आशातीत सफलता मिली है। इस नई प्रणाली का निर्वाह आपने इस खूबी से किया है कि उत्कृष्ट काव्यानन्द के साथ कथोपकथन में विशेष बल आ गया है।

सगर-विजय का कथानक चुनने में आपने सचमुच ही बड़ी अच्छी सूझ से काम लिया है। भाषा-प्रवाह भी इतना ही सुन्दर